❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

भागवत-पत्रिका

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष ५ | गौराब्द ४७३, मास—श्रीधर २८, वार—संकर्षण
सोमवार, ३१ श्रावण, सम्वत् २०१६, १७ अगस्त १९५९ | संख्या ३

श्रीकृष्णस्तुतिः

(जरासन्ध-कारारुद्ध-राजगण-भाषिता)

नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।
प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः ॥१॥

नैमं नाथानुसूयामो मागधं मधुसूदन ।
अनुग्रहो यज्ञवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥२॥

राज्यैश्वर्यमदोन्नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।
त्वन्मायामोहितोऽनित्या मन्यते सम्पदोऽचलाः ॥३॥

मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्ते उदकाशयम् ।
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥४॥

वयं पुरा श्रीमदनष्टदृष्टयो जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो मृत्युं पुरस्त्वाविगणय्य दुर्मदाः ॥५॥

त एव कृष्णाय गभीररंहसा दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मरामि ते ॥६॥
अघो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं देहेन शश्वत् पतता रुजां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम् ॥७॥
तं नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।
स्मृतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥८॥
कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥९॥

—श्रीमद्भागवत १० म स्कन्ध ७३ अध्यायसे

अनुवाद

हे देवदेवेश ! हे शरणागतजनोंके दुःखको हरण करनेवाले ! हे अव्यय स्वरूप ! हम आपको प्रणाम कर रहे हैं । हे श्रीकृष्ण ! हम अत्यन्त दुःखित अन्तःकरणसे आपकी शरणमें आये हैं; आप इस घोर संसार-बंधनसे हमारी रक्षा कीजिए ॥१॥

हे प्रभो ! हे मधुसूदन ! हमलोग जरासंधके प्रति कोई दोषारोप नहीं करते, क्योंकि राजाओंकी राज्य-च्युतिको आपकी कृपाका फल ही कहना होगा ॥२॥

नृपतिगण राज्य और धन-सम्पत्ति आदि ऐश्वर्यके मदमें मत्त रहनेके कारण स्वेच्छाचारी होकर अपना कल्याण-मार्ग पकड़ नहीं पाते तथा आपकी माया द्वारा मोहित होकर वे अनित्य ऐश्वर्योंको अचल मानते हैं ॥३॥

मूर्ख व्यक्ति जिस प्रकार मरीचिकाको सरोवर समझते हैं, उसी प्रकार अविवेकीजन की विकारयुक्ता मायाको ही सत्य वस्तुके रूपमें दर्शन करते हैं ॥४॥

हे प्रभो ! हमलोग पहले राजैश्वर्यके मदसे अन्ध तथा अहंकारसे मत्त हो रहे थे । इसलिये मृत्युरूपी आपको सामने देख कर भी हमने कुछ भी परवाह नहीं की । और इस पृथ्वीको विजय करनेकी कामनासे परस्पर स्पर्धाकर अपनी-अपनी प्रजाओंका बड़ी निर्दयतासे विनाश किया । हे कृष्ण ! वे ही हम नृपतिवर्ग अलक्ष्यगति और अलंघनीय प्रभाववाले कालके द्वारा राज्यभ्रष्ट और आपकी कृपासे हतगर्व होकर आपके चरणयुगलका स्मरण कर रहे हैं ॥५-६॥

हे विभो ! अब हम क्षण-क्षणमें क्षीण होनेवाले और रोगोंके घर इस शरीर द्वारा उपासनीय और मरीचिका जैसे राज-सुख अथवा केवल श्रवण-मधुर पारलौकिक स्वर्गादि सुख-भोगोंकी कामना नहीं रखते ॥७॥

अतएव इस संसारमें नानाप्रकारकी योनियोंमें निरन्तर भ्रमण करते हुए भी हमारे हृदयसे जिस प्रकार आपके चरणयुगलकी स्मृति विलुप्त नहीं हो सके, वैसा उपाय कीजिये ॥८॥

हे प्रभो ! शरणागतजनोंके दुःखको हरण करनेवाले, गोविन्द, परमात्मस्वरूप, वासुदेव, श्रीहरि और श्रीकृष्ण—आपको हम प्रणाम कर रहे हैं ॥९॥

सन्त (सज्जन) के लक्षण

अकाम-१३

जीव जिस समय अपना स्वरूप भूल जाता है, तब वह अभावके राज्यमें प्रवेश करता है। ऐसी दशामें उसे सर्वत्र अभाव ही अभाव दृष्टिगोचर होता है। वह इन अभावोंकी पूर्तिके लिये तरह-तरह-की कामनाएँ किया करता है। धर्माधर्म-ज्ञानसे रहित कामनाका नाम स्वेच्छाचार है, पुण्यमय कामनाको सत्कर्म कहते हैं तथा कामनाओंका त्याग मोक्षकाम कहलाता है। सकाम-व्यक्ति अर्थ-धर्म-काम रूप त्रिवर्गका अनुसंधान करते हैं तथा कामनारहित जीव मोक्षके लिये प्रयत्न करते हैं। त्रिवर्गकी कामना करने वाले अथवा मोक्षको चाहनेवाले, दोनों ही अपने-अपने अन्वेषणीय कामनाओंके दास हैं। इन दोनों श्रेणीके मनुष्योंमें कामना वर्त्तमान रहनेके कारण वे सज्जन या अकाम नहीं कहे जा सकते।

भगवद्भक्तजन-संतजन ही अकाम या निष्काम हैं

संतजन ही एकमात्र निष्काम होते हैं। वे पृथ्वी-की किसी भी वस्तुकीकामना नहीं करते। वे वर्ण और आश्रम सबका परित्याग कर सम्पूर्ण रूपसे कृष्णैकशरण होते हैं। चौदहों भुवनोंमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो उनको लुभा सके और जिसकी वे कामना करें। उनके काम्य तो एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं; उनकी समस्त कामनाएँ श्रीकृष्णकाममें ही पर्यवसित होती हैं। उनमें अपने लिये सुखकी तनिक भी इच्छा या कामना नहीं होती। उनकी सारी इन्द्रियाँ सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण-सेवामें ही संलग्न होती हैं। अतएव उनमें कृष्णेतर वस्तुओंकी कामना होने का अवकाश ही कहाँ है ?

शुद्ध भगवद्भक्तोंको छोड़ कर सभी किसी न किसी प्रकार कामके अवश्य ही दास हैं। कर्मी-ज्ञानी अभक्तजन किसी प्रकार भी विश्वास नहीं करते कि सज्जन पुरुष कामनाशून्य होते हैं। परन्तु वे माने चाहे न माने कपटी भक्तजन और वैष्णव संतोंमें मिथ्या और सत्यका अन्तर है। भक्त और अभक्त सबको समान समझने वाले व्यक्ति निष्काम भक्तोंका स्वरूप नहीं जान पाते हैं—यह उनका दुर्भाग्य है।

निरीह-१४

श्रीमद्भागवतमें नैष्कर्म्यकी बड़ी महिमा बतलायी गयी है। नैष्कर्म्य कहनेसे कर्मचेष्टा-राहित्यका बोध होता है। किसी प्रकारका फल पाने की आशासे जो चेष्टाकी जाती है, उसे कर्मचेष्टा कहते हैं। भागवद्-धर्ममें कर्मचेष्टा का स्थान नहीं है; इसलिये भक्तजन-निरीह हैं। निरीह शब्दका तात्पर्य कर्मचेष्टासे रहित होना ही है।

फलभोग—कर्मकाण्डका उद्देश्य है। जीव बद्धा-वस्थामें सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंसे अचित् वस्तुओंका भोग करता है। परन्तु संतजन बद्धावस्थामें भी अपने स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंके द्वारा स्वयं कर्मफल भोग करने के बदले अपने आत्मानुशीलनमें निरत अप्राकृत मन द्वारा कर्मफल-भोगवासनासे सर्वथा मुक्त होते हैं। ऐसे सज्जनों को अप्राकृत या जीवन्मुक्तकी संज्ञा दी जाती है।

'ईहा' शब्दका अर्थ है—चेष्टा। खण्डकालके

भीतर स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंसे भोग और मोक्षके उद्देश्यसे जो कुछ भी अनुष्ठित होता है, वह सब कुछ अनात्म चेष्टा है। परन्तु जो भोग और मोक्षको अंतिम फल नहीं समझते, वे ही हरिपरायण अथवा सज्जन व्यक्ति हैं। भगवान् श्रीहरि नित्य और अप्राकृत वस्तु हैं; उनकी लीला नित्य है और उनके सेवक भी नित्य हैं। कर्मकाण्डमें कर्मफल भोगकी वासना प्रधान होती है। यदि ऐसी क्रियाएँ भगवान्से सम्बन्धित भी हों, तो भोगप्रधाना होनेके कारण शुद्ध नहीं हैं। जिस समय जीवकी चिन्मय प्रवृत्तिका उदय होता है, उस समय वह प्रवृत्ति सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंमें प्रकाशमान होकर कर्मी और ज्ञानियोंकी क्रियाके समान ही दिखलाई पड़ती है। परन्तु सूक्ष्म रूपमें विचार करनेसे सज्जन पुरुषों अर्थात् संतोंकी चेष्टाएँ और भोग-मोक्षकी चेष्टाएँ परस्पर विपरीत होती हैं।

संतजन निरीह होते हैं—इसका अर्थ यह नहीं कि संतजन कुछ भी नहीं करते और उनकी कोई भी चेष्टा नहीं होती। वरं उसका तात्पर्य यह है कि संतजनोंकी सारी चेष्टाएँ सपरिकर श्रीकृष्णके सुखके लिये होती हैं, जड़के प्रति उदासीन होती हैं। तन, मन और वचनके द्वारा समस्त अवस्थाओंमें ही जब कृष्ण-सुखके लिये निष्कपट चेष्टाएँ होने लगती हैं, तब वैसे व्यक्तिको जीवन्मुक्त या संत (सज्जन) कहा जाता है। अचिन्वस्तुका अनुशीलन ही कर्मचेष्टा है; अचित् वस्तुसे केवल सर्वथा उदासीन होना ज्ञान-चेष्टा या वैराग्य है। परन्तु संतजनोंकी चेष्टाएँ इन दोनोंसे सर्वथा विलक्षण होती हैं।

हरि-विमुख मुक्त और हरिसेवक संत दोनों ही कर्म-चेष्टासे दूर रहते हैं। हरि-विमुखोंका आलस्य और निर्विशेष भावने उनको भगवान्के चरणोंमें अपराधी बना दिया है, इसीलिये वे जड़ आलस्यको ही अतिशय हितकर समझ कर भगवत्सम्बन्धी वस्तुओंको सांसारिक मानते हैं। ज्ञानियोंकी अत्यधिक ज्ञानचेष्टा अथवा निर्भेद-ब्रह्मानुसंधान उनको परम हितकर भगवानके तत्त्वज्ञानसे विमुख कर देता है। संतोंमें ऐसी चेष्टा नहीं होती, इसलिये वे निरीह हैं। साथ ही हरिसेवामें निखिल चेष्टामय होने पर भी जड़के प्रति उदासीन होते हैं।

— ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती

साधन

जीव विषय-भोगकी कामनाओंके वशीभूत होनेके कारण सुख पानेकी आशासे भगवद्विमुख होकर संसार-चक्रमें भ्रमण कर रहा है। संसार-सुखकी यह आशा जबतक क्षयोन्मुख नहीं होती, तब तक जीव किसी प्रकार भी भगवान्के प्रति उन्मुख नहीं होता। अत्यधिक सुकृतिके फल-स्वरूप भगवत् कृपा होने पर ही संसार-वासना दुर्बल होती है और उस समय स्वाभाविक रूपमें ही साधु-संगमें रुचि होती है! सत्संगमें कृष्ण-कथाका अनुशीलन होते-होते श्रद्धा उत्पन्न होती है और क्रमशः अधिकतर गाढ़ी चेष्टाके साथ कृष्णका अनुशीलन होने पर भगवान्को प्राप्त करनेका लोभ पैदा होता है। इसी समय शुद्ध चरित्रवान और तत्त्वज्ञ गुरुका चरणाश्रय कर भजनकी शिक्षा लेनी पड़ती है। भजनसे ही जीव भगवान्की कृपा प्राप्त करता है।

भगवान्की कृपा प्राप्त करनेके लिये ही साधनकी आवश्यकता है।

मायाबद्ध दशामें भगवत्-कृपा लाभ करनेके लिये साधनकी आवश्यकता होती है। साधनके बिना कोई

भी साध्यवस्तुको नहीं पा सकता है—यह श्रीचैतन्य-महाप्रभुकी शिक्षा है। जो लोग थोड़ी सी श्रद्धा प्राप्त कर लेने पर भी साधन-कार्यमें अलसता प्रकाश करते हैं, वे कृष्णकी कृपा प्राप्त नहीं कर पाते। उनका जन्म वृथा ही बीत जाता है। कृष्ण बड़े करुणामय हैं, उन्होंने जीवोंके कल्याणके लिये शास्त्र प्रकट किये हैं। वे स्वयं प्रत्येक युगमें अवतीर्ण होकर शास्त्रका यथार्थ अर्थ समझाकर और युगधर्मका प्रचार कर जीवोंको भगवान्‌के प्रति उन्मुख करनेकी चेष्टा करते हैं। विशेषतः कलियुगमें तो उनकी कृपाकी सीमा नहीं है। इतने पर भी जो लोग भगवत्प्राप्तिके साधनमें प्रवृत्त नहीं होते, उनके कल्याणकी सम्भावना नहीं है।

साधनके तारतम्यसे सिद्धिमें तारतम्य

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सर्वतंत्र स्वतंत्र हैं; वे इच्छा करनेसे ही जीवको दर्शन दे सकते हैं। परन्तु जिनमें इतना भी आग्रह नहीं है कि थोड़ा सा भी साधन करके भगवान्‌को लाभ कर सके, तो ईश्वर प्राप्तिके लिये जो उसकी तृष्णा है, वह तृष्णा नहीं, तृष्णाका आभास मात्र है। वह भगवद्दर्शन करके भी तथा उनको पाकर भी सुखी नहीं हो सकता। वह वैकुंठ लोकमें जाकर अत्यन्त तुच्छ संसारिक-भोगोंके आकर्षणसे वहाँसे लौट आवेगा। साधनका तात्पर्य है—भगवान्‌के प्रति तृष्णाको बढ़ाना। आग्रह और प्रयत्नके साथ साधन करते रहनेसे जिसकी कृष्णके प्रति जितनी अधिक तृष्णा बढ़ती है, वे उतने ही अधिक रूपमें कृष्णकी कृपा प्राप्त करते हैं। जब तृष्णा पूर्णमात्रा तक पहुँच जाती है, तब कृष्ण किसी प्रकार भी अपनेको रोक नहीं पाते, वे तुरंत ही साधकके सामने प्रकट हो पड़ते हैं। अतः साधन—जिस परिमाणमें जितनी ही श्रद्धापूर्वक होगा, सिद्धि उतनी नजदीक आती जायगी।

साधन किसे कहते हैं ?

साधन किसे कहते हैं ?—रूप गोस्वामी कहते हैं—

'नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साधनम्।'

जीव स्वरूपतः भगवान्‌का दास है, भगवत्प्रेम जीवका नित्यसिद्ध धर्म है। जीवकी बद्धावस्थामें वह नित्यसिद्ध-भाव विषय-प्रेमके रूपमें प्रकाशित होता है। जिस उपायसे प्रेमको विषयसे हटाकर भगवान्‌के प्रति लगाया जाय अर्थात् हृदयमें नित्य-सिद्ध भगवत्प्रेमको प्रकट किया जाय, उसे साधन कहते हैं। शास्त्रोंमें नानाप्रकारके साधन बतलाये गये हैं। श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें समस्त साधनाङ्गोंको ६४ भागोंमें विभक्त किया है। श्रीमद्भागवतमें उन्हींको ९ भागोंमें विभक्त कर नवधा भक्ति कहा गया है। सभी साधनोंका सार है—हरि-नाम। विशेषतः कलियुगमें तो हरिनामके बिना दूसरी गति ही नहीं है।

श्रीहरिनाम संकीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है

पण्डितप्रवर वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्यने जब श्रीमन्महाप्रभुसे यह पूछा कि सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है, तो श्रीमन्महाप्रभुजीने हरिनाम-कीर्तनको ही सर्वश्रेष्ठ साधन बतलाया था—

भक्तिसाधन-श्रेष्ठ सुनिते हैल मन।
प्रभु उपदेश कैल नाम-संकीर्तन॥
(चै. म. ६।२४१)

उन्होंने सनातन गोस्वामीको भी उपदेश दिया है—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
'कृष्णप्रेम', 'कृष्ण' दिते धरे महाशक्ति॥
तारमध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम-संकीर्तन।
निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन॥
(चै. च. अ. ४।७०-७१)

कलियुगमें हरिनामके बिना जीवकी कोई दूसरी गति नहीं है। हरिनाम ही एकमात्र साधन है। दूसरे-दूसरे साधन हरिनामके सहायक माने जाते हैं। यद्यपि शास्त्रोंमें 'एक अंग साधे केह, साधे बहु अंग' अर्थात् कोई-कोई एक अंगका साधन कर और कोई कोई बहुतसे अंगोंका साधन कर साध्यवस्तु प्राप्त करते हैं' आदि वचन दिखलायी पड़ते हैं, तथापि इसके द्वारा कोई यह न समझ ले कि हरिनामको छोड़कर किसी एक अंगका साधन करनेसे भी प्रयोजनकी सिद्धि हो

सकती है। हरिनामको श्रेष्ठ साधन समझकर अनन्य भावसे श्रीनामका आश्रय कर नाम-साधनके रूपमें दूसरे अंगोंको ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि शास्त्रमें ऐसी स्पष्ट आज्ञा है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(बृहन्नारदीय ३८।१२६)

श्रीनाम—साध्य और साधन दोनो हैं

जो सौभाग्यशाली व्यक्ति श्रीमन्महाप्रभुके कृपा-पात्र हैं, वे निष्कपट होकर अनन्यरूपमें हरिनामका आश्रय करते हैं। हरिनामका साधन करते-करते सिद्धिकालमें वे नामको ही साध्यके रूपमें प्राप्त होते हैं, क्योंकि नाम ही साध्य हैं और नाम ही साधन हैं, नाम और नामी अभिन्न हैं।

श्रीनामकी साधनाके सम्बन्धमें कतिपय उपदेश

श्रीनाम साधनके सम्बन्धमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता है। साधन इन्द्रियोंके द्वारा किया जाता है। इसलिये साधकोंकी इन्द्रियोंका मजबूत और कर्म-कुशल होना आवश्यक है। नियमित आहार और नियमित विहार करनेसे शरीर तन्दुरुस्त रहता है और साधन सुचारु रूपसे सम्पन्न होता है। दूसरी तरफ शुष्क वैराग्य करनेसे शरीरके प्रति अत्याचार होता है जिससे इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं और साधनके बदले अपने प्राणोंसे भी हाथ धोने पड़ते हैं। इस विषयमें भगवान श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

इसका अर्थ यह है कि आवश्यकतासे अधिक भोजन करनेवाले, आवश्यकतासे अल्प भोजन करने वाले, अधिक सोनेवाले और बिलकुल न सोनेवाले व्यक्तिका शरीर और उसकी इन्द्रियाँ साधनके लिये अनुपयुक्त होती हैं। सुदृढ़ साधनके लिये शरीरका निरोग होना तथा इन्द्रियोंका पुष्ट होना आवश्यक है और यह तभी हो सकता है, जब कि नियमित रूपमें आहार-विहार किया जावे और दूसरी-दूसरी आवश्यक चेष्टाएँ नियमित रूपमें हों। ऐसा होनेसे साधन सुचारु रूपसे चल सकता है। तात्पर्य यह कि अन्तरेन्द्रियरूप मनकी—स्वरूपभ्रम, असत्तृष्णा, हृदय-दौर्बल्य और अपराध—इन चार प्रकारके अनर्थोंसे रक्षा करते हुए उसे श्रीनामके चिन्तन और स्मरणमें लगाना चाहिए तथा बहिरेन्द्रियोंकी अधिक भोजन, अधिक निद्रा और भोग-विलाससे रक्षा कर उन्हें भी श्रीनाम संकीर्त्तनमें लगा देना चाहिए। यही साधक का कौशल है।

भक्तिके अनुकूल-ग्रहण और प्रतिकूल-वर्जनमें दृढ़ता ही साधनका मूलाधार है

साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह अत्यन्त दृढ़ता और लगनके साथ भक्तिके अनुकूल भावोंको ग्रहण करे और साथ ही भक्ति-प्रतिकूल भावोंका वर्जन करे। संसारी जीवोंके सामने अधिकतर भजन-प्रतिकूल-व्यापार उपस्थित होते हैं। इन प्रतिकूल व्यापारोंका दृढ़ता पूर्वक वर्जन नहीं करनेसे साधनमें नाना प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिससे अभीष्ट-सिद्धिमें विलम्ब हो जाता है। आज इस भक्ति प्रतिकूल कार्यको करलूँ, कलसे ऐसा नहीं करूँगा—ऐसा सोचना ठीक नहीं। यह हृदयकी दुर्बलता है। इससे कदापि मंगल नहीं हो सकता। जो विषय भजनके प्रतिकूल जान पड़े, उसे भगवत्कृपा अवलम्बनपूर्वक उसी समय छोड़ देना चाहिए। दृढ़ता ही साधनका मूल है दृढ़ताके अभावमें साधन पथ पर एक कदम भी अग्रसर नहीं हुआ जा सकता है।

साधन कार्यमें सत्सङ्गका स्थान

सत्संग—साधनका सबसे प्रधान सहायक है। बद्धजीवका हृदय अनर्थोंसे इतना भरपूर होता है कि बड़ी-बड़ी चेष्टाओंके बावजूद भी वे दूर नहीं किये जा सकते। परन्तु सत्संग इतना प्रभावशाली होता है कि इन समस्त अनर्थोंको वह अनायास ही खदेड़

देता है और हृदय-क्षेत्रको परम पवित्र कर वहाँ कृष्ण-प्रेमको प्रकाशित करा देता है।

साधन कार्यमें सत्संग नितांत आवश्यक है। श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा है—

कृष्णभक्ति-जन्ममूल हय 'साधुसंग।'
कृष्ण-प्रेम जन्मे, तिहों पुनः मुख्य अङ्ग॥
(चै. च. म. २२।८०)

महत्-कृपा बिना कोनो कर्मे भक्ति नय।
कृष्णभक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय॥
(चै. च. म. २२।५१)

निरन्तर श्रीनाम-ग्रहण और श्रीनामसे कृपा-प्रार्थना

नामपरायण शुद्धभक्तोंके संगमें रहकर नाम करने से सारे अपराध दूर हो जाते हैं और हृदयमें शीघ्र ही नाम तत्त्व उदित हो पड़ते हैं। श्रीमन्महाप्रभुके श्रीचरणोंमें हम यह प्रार्थना करते हैं कि वे ऐसी कृपा करें कि हमें सत्संग प्राप्त हो जाय और हम उस सत्संगमें रह कर निरन्तर हरिनाम करते हुए शीघ्र ही नाम-रस प्राप्त कर सकें। हम श्रीनामकी कृपाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं चाहते।

ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

उपनिषद्-वाणी

कठोपनिषद्

कठोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदके अन्तर्गत बहुत ही प्रसिद्ध उपनिषद् है। इसमें नचिकेता और यमके संवादरूपमें परमात्म-तत्त्वका बड़ा ही विशद वर्णन है। इसमें शान्तिपाठ इस प्रकार देखा जाता है—

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषामहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हे परमात्मन्! आप हम गुरु-शिष्य दोनोंकी सब प्रकारसे रक्षा करें। हम दोनोंका पालन-पोषण करें। साथ ही साथ हम दोनों सब प्रकारसे बल प्राप्त कर सकें। हम दोनोंकी अध्ययनकी हुई विद्या तेजपूर्ण हो एवं हमारे अन्दर परस्पर कभी द्वेषभाव न हो।

जिस समय भारतवर्षका पवित्र आकाश यज्ञधूम और उसके पवित्र सौरभसे परिपूर्ण और सुरभित रहता था, ऋषि-महर्षियों द्वारा उच्चरित वेद-मंत्रोंकी ध्वनिसे दशों दिशाएँ गूँजती रहती थीं, उसी समय का यह प्रसिद्ध इतिहास है। गौतमवंशीय वाजश्रवात्मज महर्षि अरुणके पुत्र उद्दालक ऋषिने फलकी कामनासे विश्वजित् नामक एक यज्ञका अनुष्ठान किया। इस यज्ञमें सर्वस्व दान करना पड़ता है। इस लिये उद्दालकने भी अपना सब कुछ ऋत्विजों और ब्राह्मणोंको दक्षिणामें दे दिया। उद्दालक ऋषिके नचिकेता नामक एक पुत्र था।

उस समय गो-धन ही प्रधान धन था। अतएव गो-दान यज्ञमें एक अवश्य कर्त्तव्य था। ऐसी विधि है कि होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता—इन चार प्रधान ऋत्विजोंको सबसे अधिक गौएँ दी जाती हैं, प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी और प्रस्तोता—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंसे आधी, अच्छावाक, नेष्टा, आग्निध्र और प्रतिहर्त्ता—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विकोंकी अपेक्षा तिहाई और प्रावस्तुत, नेता होता और सुब्रह्मण्य—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा चौथाई गौएँ दी जाती हैं।

नियमानुसार जब दान करनेके लिये यज्ञस्थलीमें गौएँ लायी जाने लगीं, उस समय बालक नचिकेता उनकी वृद्ध और अतिशय हीन दशा देखकर बड़ा ही दुखी हुआ और सोचने लगा—'पिताजी इन बूढ़ी गौओंको क्यों दक्षिणामें दे रहे हैं? इनमें न तो जल पीने शक्ति हैं, न इनके मुखमें घास चबानेके लिये दाँत ही रह गये हैं और न इनके स्तनोंमें दूध ही बचा है। अधिक क्या, इनकी तो सारी इन्द्रियाँ भी शिथिल हो चुकी हैं—इसमें गर्भ-धारण करने तक की भी सामर्थ्य नहीं है। भला, ऐसी गौओं को दक्षिणामें देनेसे क्या लाभ है? अनुपयोगी वस्तुओंका दान करनेसे दाताको नीच योनियाँ और नरकादि लोक ही प्राप्त होगा। अतः ऐसा दान कदापि उचित नहीं। जहाँ सर्वस्व दान करनेकी बात है, वहाँ इन वृद्ध और निरर्थक गौओंके दानसे पिताजी क्या सुख पायँगे? अतएव इस अहितकर परिणामसे पिताजीकी रक्षा करना मेरा धर्म है।' ऐसा निश्चय कर नचिकेताने अपने पितासे कहा—'पिताजी! जहाँ आपको सर्वस्व दान करनेकी बात है, वहाँ इन बूढ़ी गायोंका दान करनेसे क्या फल होगा? सर्वस्वके अन्दर तो मैं भी पड़ता हूँ, आप मुझे किसको दे रहे हैं?' पिताने कोई उत्तर नहीं दिया। नचिकेताने फिर कहा—पिताजी आप मुझे किसको दे रहे हैं?' पिताजी फिर भी चुप रहे। परन्तु नचिकेताका संकल्प दृढ़ था, उसने फिर वही पूछा। इस बार पिताने क्रोधमें भर कर कहा—'तुझको दे रहा हूँ मृत्युको!' यह सुनकर नचिकेता मन ही मन विचार करने लगा—'शिष्य और पुत्र तीन श्रेणियोंमें विभक्त होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ। जो पिता या गुरुका मनोरथ समझ कर उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा किये बिना ही स्वयं उनकी रुचिके अनुसार करते हैं, वे उत्तम हैं। जो आज्ञा पाने पर कार्य करते हैं, वे मध्यम हैं और जो आज्ञा पाकर भी वैसा कार्य नहीं करते या मन लगाकर नहीं करते, वे अधम हैं। मैं बहुतसे शिष्योंमें प्रथम और द्वितीय श्रेणीका हूँ; परन्तु किसी भी हालतमें अधम श्रेणीके अन्तर्गत नहीं हूँ। क्योंकि आज्ञा मिले और उस आज्ञाका पालन न करूँ, ऐसा तो मैंने कभी नहीं किया। फिर पिताजीने मुझे ऐसा क्यों कहा? और मृत्युदेवताका भी ऐसा कौन सा प्रयोजन है, जिसको पिताजी मुझे उनको देकर आज पूरा करना चाहते हैं? हो सकता है, पिताजीने क्रोधमें आकर ऐसी बात कही हो, परन्तु जो कुछ भी हो, पिताजीका वचन सत्य करना ही मेरा कर्त्तव्य है।'

परन्तु पिताको वैसी रूढ़ बात कहनेके लिये पश्चाताप करते देख कर नचिकेताने उनको सान्त्वना देते हुए कहा—'पिताजी! अपने पूर्वजोंका आचरण और दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण देखिये। उनके चरित्रमें कभी भी कोई असत्य आचरण न था। असाधु पुरुष ही असत्यका आचरण करते हैं। परन्तु उस असत्य आचरणसे वे अजर-अमर नहीं होते। सभी मरणशील हैं। अन्नकी भाँति सभी मनुष्य जन्म लेते हैं और कुछ समयके बाद मर जाते हैं और कर्मवश पुनः नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेते हैं। इसलिये इस अनित्य जीवनके लिये मनुष्यको कभी भी कर्त्तव्य का त्यागकर मिथ्या आचरण नहीं करना चाहिए। आप शोक न करें और अपने वचनका पालन कर मुझे मृत्यु (यमराज) के पास जानेकी अनुमति प्रदान कीजिए।'

नचिकेताकी बात सुनकर पिताको बड़ा दुःख हुआ। परन्तु उसकी कर्त्तव्य परायणता देखकर उन्होंने उसे यमलोकमें जानेसे रोका नहीं।

नचिकेता यमपुरी उपस्थित हुए। परन्तु वहाँ पता चला कि यम महाराज कहीं बाहर गये हुए हैं। इस लिये नचिकेता तीन दिनोंतक बिना अन्न-जल ग्रहण किये ही यमराजकी प्रतीक्षा करता रहा। यमराजके लौटनेपर उनकी पत्नि ने कहा—'हे सूर्यपुत्र! साक्षात अग्निके समान एक परम तेजस्वी ब्राह्मण अतिथि आज तीन दिनोंसे आपके दरवाजे पर बिना खाये-पिये आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आप पाद्य-अर्घ्य आदि द्वारा उस अथितिका यथोचित सत्कार कीजिए। जिसके घर पर ब्राह्मण-अतिथि भूखा बैठा रहता है, उस मन्द बुद्धि मनुष्यको न तो इच्छित फल मिलते

हैं, न वे पदार्थ ही मिलते हैं, जिनके मिलनेका पूरा निश्चय था। उसके यज्ञ-दानादि एवं कूप, तालाब और धर्मशाला आदि निर्माणके सारे फल नष्ट हो जाते हैं। अधिक क्या, जो अतिथिका सत्कार नहीं करते, उनके पुत्र-पौत्र आदि भी ध्वंस हो जाते हैं।'

पत्नीकी बात सुनकर यमराज तुरन्त नचिकेताके पास गये और पाद्य-आर्घ्य आदि द्वारा उनकी विधिपूर्वक पूजा कर बोले—'ब्राह्मण-देवता ! आप मेरे नमस्कारादि सत्कारके योग्य अतिथि हैं। परन्तु मैं आपकी कोई सेवा नहीं कर सका हूँ, अधिकन्तु आप तीन दिनों तक मेरे घर पर भूखे-प्यासे बैठे हैं। इससे मेरा बड़ा अपराध हो गया है। आपको नमस्कार करता हूँ। आप मेरे अपराधको क्षमा कर दें। अपराधकी निवृत्तिके लिये आप एक-एक रातके लिये एक-एक करके अपनी इच्छाके अनुसार तीन वर माँग लीजिए।

वर माँगनेकी कोई इच्छा न होने पर भी, शोक-संतप्त पिताको सुख पहुँचानेके लिये नचिकेताने यमराजसे कहा—'हे मृत्युदेव ! यदि आप वर देना चाहते हैं, तो पहला वर यह माँगता हूँ कि मेरे पिता, जो क्रोधके आवेशमें मुझे आपके पास भेज कर अब बड़े दुःखी हैं, मेरे प्रति क्रोधरहित, शान्तचित्त और सन्तुष्ट हो जाँय और जब मैं आपकी आज्ञा से घर लौटूँ तब वे मुझसे स्नेहपूर्वक बातचीत करें।'

यमराज बोले—'ऐसा ही होगा'

पहला वर पाकर नचिकेताने पुनः कहा—'हे यमराज ! सुना है, स्वर्गलोक बड़ा ही सुखकर है, वहाँ किसी प्रकारका भय नहीं है। स्वर्गमें कोई बुड्ढा नहीं होता। वहाँ पर न तो कोई मृत्युलोककी तरह मरता है और न किसीको वहाँ पर भूख और प्यास का कोई कष्ट ही सहना पड़ता है। वहाँके निवासी तो शोक रहित होकर सदा आनन्दका उपभोग करते परन्तु स्वर्ग-प्राप्तिके लिये अग्नि-विज्ञानका जानना आवश्यक है, जिसे मैं जानता नहीं हूँ। मेरी उस अग्नि-विद्या और साथ ही आपमें भी पूर्ण श्रद्धा है। अतएव आप कृपा कर मुझे अग्निविद्याका उपदेश कीजिए, जिससे स्वर्गलोकमें जाकर अमृतत्वको प्राप्त कर सकूँ। यही मैं दूसरा वर चाहता हूँ।'

यमराज बोले—'नचिकेता ! मैं स्वर्गप्राप्तिके साधन-रूप अग्निविद्याको भलीभाँति जानता हूँ। यह अग्नि विद्या अनन्तलोककी प्राप्ति करानेवाली है तथा अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। यह विद्वानोंकी हृदय-गुफामें छिपी रहती है। तथापि मैं तुमको यथार्थ-रूपमें बतला रहा हूँ।' ऐसा कहकर यमराजने नचिकेताको अग्निविद्याका रहस्य, अग्निकुण्ड और यज्ञवेदीका आकार, उसके निर्माणके लिये ईंटोंका आकार-प्रकार, उनकी संख्या, एवं किस प्रकार अग्नि का चयन किया जाता है—यह सब कुछ भलीभाँति बतलाया। उसके पश्चात् नचिकेताकी स्मृतिकी परीक्षाके लिये उन्होंने नचिकेतासे पूछा—'मैंने तुमको जो कुछ बतलाया है, उसे मुझे सुनाओ। तीक्ष्ण बुद्धिवाले नचिकेताने जो कुछ सुना था, वह आदिसे अन्त तक ज्योंका त्यों सुना दिया। यमराज उसकी विलक्षण स्मृतिशक्ति और प्रतिभा देखकर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'तुम्हारी अप्रतिम योग्यता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। इसलिये तुम्हारे माँगे बिना ही एक और वर अपनी तरफसे तुम्हें दे रहा हूँ। वर यह कि जिस अग्निका मैंने तुमको उपदेश किया है, वह आजसे तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी; और तुम्हारे देवत्वकी सिद्धिके लिये अनेक रूपोंवाली यह रत्नमाला भी दे रहा हूँ—इसे ग्रहण करो। इस नचिकेताग्निका तीन बार अनुष्ठान करनेवाला पुरुष ऋक्, साम और यजुः—तीनों वेदोंसे सम्बन्ध स्थापन कर, तीनों वेदोंका सम्पूर्णरूपसे ज्ञाता होकर; निष्कामभाव से यज्ञ, दान और तप—इन तीनों कर्मोंका आचरण करता हुआ जन्म-मृत्युको पार कर जाता है। ब्रह्मासे उत्पन्न, देवताओंके स्तवनीय इस अग्निका निष्काम-भावसे चयन करनेवाला पुरुष अनन्त शान्तिको प्राप्त होता है, जो मुझको प्राप्त है। नचिकेता ! तुम्हें बतलायी हुई इस अग्नि-विद्याको जानलेने पर मनुष्य

मृत्यु-पाशको छिन्न-भिन्नकर अनन्त अविनाशी आनन्दका अधिकारी होता है। अब तुम तीसरा वर माँगो।'

नचिकेताने कहा—'हे यमराज! मरे हुए मनुष्यों के सम्बन्धमें एक बड़ा संदेह है। कुछ लोग कहते हैं कि मृत्युके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं, नहीं रहता। दूसरे प्रकारके लोगोंका कहना यह है कि मृत्युके बाद कुछ भी नहीं रहता।' इस विषयमें आपका जो अनुभव है, वह कृपा कर मुझे बतलाइये।

नचिकेताका उत्तम प्रश्न सुनकर यमराजने मन-ही-मन उसकी प्रशंसा की और सोचा कि यह बालक बड़ा ही प्रतिभाशाली है, क्योंकि यह बड़े गोपनीय तत्त्वको जानना चाहता है। परन्तु अनधिकारी व्यक्ति को आत्मतत्त्वका उपदेश करना अहितकर होता है। अतएव उपदेश देनेके पहले पात्रकी परीक्षा कर लेना आवश्यक है।' ऐसा सोचकर बोले—'नचिकेता! आत्मतत्त्व बड़ा ही सूक्ष्म विषय है। इसको समझना आसान नहीं है। देवताओंको भी इस विषयमें संदेह हुआ था। उनमें भी अनेक विचार और तर्कादि हुआ था, परन्तु वे भी इस विषयको यथार्थ-रूपमें जान नहीं पाये। अतएव तुम कोई दूसरा वर माँग लो। इसके लिये मुझे अनुरोध न करो। इसको मुझे लौटा दो।'

नचिकेता आत्मतत्त्वकी कठिनताकी बात सुनकर तनिक भी घबड़ाया नहीं, न उसका उत्साह ही ढीला पड़ा, वरं वह और भी दृढ़ताके साथ बोला—'हे यमराज! आप जो यह कह रहे हैं कि इस विषय पर देवताओंमें बीच बीचमें विचार-वितर्क हुआ था, परन्तु वे भी इसको यथार्थरूपमें नहीं जान पाये हैं और यह तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है; इससे तो यही निश्चित-रूपमें जान पड़ता है कि यह विषय बड़े महत्त्वका है तथा आप इस विषयके सम्यक ज्ञाता हैं। अतएव आप जैसे उपयुक्त उपदेशकको पाकर मैं इस वरको छोड़ कर कोई दूसरा वर नहीं चाहता। कृपया मुझे इसीका उपदेश कीजिए।

नचिकेताको पहली परीक्षामें उत्तीर्ण देखकर यमराजने दूसरी बार परीक्षा लेनेके लिये कहा—'नचिकेता! तुम इस वरको लेकर क्या करोगे? इसके बदलेमें तुम सौ-सौ वर्षकी परमायुवाले अनेक पुत्र-पौत्र, पृथ्वी-घोड़े, सुवर्ण और समस्त भूमण्डलका राज्य एवं जितने दिन जीवित रहनेकी इच्छा हो उतनी लम्बी आयु माँग लो! इनसे भी तुम्हारा जी न भरे तो तुम यदि प्रचुर धन-सम्पत्ति, दीर्घजीवन, पृथ्वीके विशाल साम्राज्य एवं मृत्युलोकमें जो जो दुर्लभ भोग हैं अथवा और भी जितने भोग हैं, उन सबको मिलाकर उस आत्मतत्त्व-विषयक वरके समान समझते हो, तो इन सबको माँग लो। और तो क्या, इन रथोंको, विविध प्रकारके वाद्योंको और स्वर्गकी सुन्दरी रमणियोंको—जो मृत्युलोकमें सर्वथा दुर्लभ हैं तथा बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी जिनके लिये लालायित रहते हैं—इस सबको स्वीकार करो। मैं इन सबको अनायास ही दे रहा हूँ, ले जाओ इन सबको और इनसे अपनी इच्छानुसार सेवा कराओ। परन्तु आत्म-तत्त्व विषयक प्रश्न मत पूछो।'

नचिकेता आत्मतत्त्वका सच्चा अधिकारी था। वह जानता था कि इस वरके समान लोक-परलोकमें कोई दूसरा वर नहीं है। अतएव उसने युक्तिसङ्गत और वैराग्यपूर्ण मधुर वाणीसे कहा—'सबका अन्त करनेवाले यमराज! आपने जिन भोग्य-वस्तुओंकी इतनी प्रशंसा की है, वे सभी क्षण-भंगुर हैं। वे कल तक भी रहेंगी या नहीं, इसमें भी संदेह है। इनके संयोगसे पाये जाने वाले सुख यथार्थ सुख नहीं हैं, वरं उनसे दुखकी ही प्राप्ति होती है। अतएव इनसे कुछ भी लाभ नहीं, उलटे ये मनुष्यकी इन्द्रियोंके तेज और धर्मको हरण कर लेती हैं। जब ब्रह्मा आदि देवताओंका जीवन भी अनित्य है, तब औरोंकी तो बात ही क्या है? इसलिये ये हाथी, घोड़े, रथ, अतुल सम्पत्ति सुन्दरी रमणियाँ और नृत्य-गीत

आदि—सब कुछ आप ही के पास रहें, मैं यह सब नहीं चाहता। आप जानते ही हैं कि मनुष्य धनसे कभी तृप्त नहीं हो सकता। आगमें घीकी आहुति देनेसे जैसे आग जोरोंसे भभक उठती है, उसी प्रकार धन और भोगोंकी प्राप्तिसे भोगकी कामनाएँ और भी भड़क उठती हैं। मुझे अपने जीवन निर्वाहके लिये जितने धनकी आवश्यकता होगी, वह आपके दर्शनसे ही मुझे प्राप्त हो जायगा। दूसरी बात, जब तक आप इस पद पर स्थित हैं, तब तक मेरा जीवन रहेगा ही, अतएव इनके लिये मुझे कोई पृथक रूपमें वर माँगनेकी आवश्यकता नहीं दीख पड़ती। अब आप ही विचार करें कि आप जैसे विचारपरायण देवताका दुर्लभ दर्शन प्राप्त करके ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो आपसे जागतिक सौन्दर्य, आमोद-प्रमोद अथवा दीर्घ जीवनके लिये प्रार्थना करेगा ?'

हे यमराज ! जिस ज्ञानके विषयमें लोग यह संदेह करते हैं कि मरनेके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है या नहीं, उस आत्म-तत्त्व ज्ञानके सम्बन्धमें ही आपका अनुभूत विचार सुनना चाहता हूँ। आप कृपा कर मुझे उसका उपदेश करें। आपका शिष्य यह नचिकेता इसको छोड़कर कोई भी दूसरा वर नहीं माँगना चाहता।' (क्रमशः)

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

जैव-धर्म

(गतांकसे आगे)

चौबीसवाँ अध्याय

प्रमेयके अन्तर्गत नामापराधका विचार

उस दिन व्रजनाथ और विजयकुमार श्रीनामकी महिमा और श्रीनामका स्वरूप-तत्त्व जानकर बड़े आनन्दित हुए और घर पहुँच कर विशुद्ध भावसे तुलसी मालापर संख्यापूर्वक पचास हजार नाम करनेके पश्चात सोये। अधिक रात बीत चुकी थी। आज शुद्धनाम करते-करते उन्हें कृष्ण-कृपाका साक्षात् अनुभव हुआ। दूसरे दिन सबेरे जब दोनों सो कर उठे तो आपसमें पिछली रातकी चर्चा चल पड़ी और अपने-अपने अनुभवको बता कर बड़े प्रसन्न हुए। गंगा-स्नान, कृष्ण-पूजन, हरिनाम कीर्तन, दशमूलपाठ, श्रीमद्भागवत-आलोचना, वैष्णव-सेवा और भगवत् प्रसाद-सेवामें उनका वह दिन बीता। संध्याके पश्चात दोनों श्रीवास अंगनमें वृद्ध बाबाजीकी कुटी में उपस्थित हुए। साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करनेके बाद विजयकुमारने पिछले दिनके प्रस्तावके अनुसार नामापराध-तत्त्वके सम्बन्धमें पूछा।

विजयकुमारकी तत्त्व-जिज्ञासा सुनकर बाबाजी महाराज बड़े प्रसन्न हुए और प्रेमपूर्वक बोले—'नाम जैसे सर्वोत्तम तत्त्व हैं, नामापराध भी उसी प्रकार सब प्रकारके पापों और अपराधोंसे बढ़कर भयंकर होता है। सब प्रकारके पाप और अपराध तो नाम उच्चारणके साथ ही साथ दूर हो जाते हैं, परन्तु नामापराध उतनी आसानीसे दूर नहीं होता। पद्मपुराणमें श्रीनामकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा गया है—

नामापराध-युक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् ।
अविश्रान्त-प्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥ (क)
(स्वर्ग खण्ड ४८।४६)

यदि नामापराधी व्यक्ति निरन्तर नाम करे तो एकमात्र नामदेव ही उसके अपराधको दूर करते हैं। देखो, नामापराध नष्ट करनेका उपाय कितना कठिन है । अतएव बुद्धिमान मनुष्य नामापराध वर्जनपूर्वक नाम करते हैं । यदि ऐसा प्रयत्न किया जाय कि नामापराध न हो तो अत्यन्त शीघ्र ही शुद्ध-नाम उदित हो जाते हैं। कोई मनुष्य नाम कर रहा है, नाम करते-करते उसके शरीरमें रोमांच हो उठता है, आँखोंसे अश्रुधारा भी बहने लगती है; फिर भी नामापराधके कारण उसके द्वारा उच्चारित नाम (शुद्ध) नाम नहीं है । इसलिये साधकोंको इस विषयमें विशेष सावधानी बर्तनी चाहिये, अन्यथा शुद्धनाम उच्चारण नहीं कर सकेंगे।'

विजय—'प्रभो ! शुद्धनाम किसे कहते हैं ?'

बाबाजी—'दस प्रकारके नामापराधोंसे रहित हरिनामको ही शुद्धनाम कहते हैं । अक्षरोंकी शुद्धता अथवा अशुद्धता आदिका इसमें कोई विचार नहीं होता ।

'नामैकं यस्यवाचि स्मरण-पथ-गतं श्रोत्र-मूलं गतं वा
शुद्धं वाशुद्ध-वर्णं व्यवहित-रहितं तारयत्येव सत्यम् ।
तच्चेद्देह-द्रविण-जनता लोभ-पाषाण-मध्ये
निक्षिप्तं स्यान्नफल-जनकं शीघ्रमेवात्र विप्र ॥
(पद्म पुराण, स्वर्ग खण्ड ४८।६०-६१)

इस श्लोकका अर्थ यह है कि—'हे विप्रवर ! एक हरिनाम भी जिसकी जिह्वा पर उदित हो जाते हैं, या कर्णेन्द्रियमें प्रवेश करते हैं, अथवा स्मरण-पथ पर जागरूक हो जाते हैं, उसको वे नाम (प्रभु) अवश्य ही उद्धार करेंगे। यहाँ नामोच्चारणमें वर्णों की शुद्धता अथवा अशुद्धता या विधिके अनुसार शुद्ध उच्चारण या अशुद्ध उच्चारण आदिका महत्व नहीं अर्थात् श्रीनाम इनका कुछ भी विचार नहीं करते; परन्तु विचारणीय यह है कि यदि वे सर्वशक्तिसम्पन्न नाम शरीर, गृह, अर्थ-सम्पत्ति, पुत्र-परिवार और लोभ (कांचन, कामिनी और प्रतिष्ठादि) आदि पाषाणके ऊपर पतित हों अर्थात् उनके उद्देश्यसे लिये जाँय तो फल शीघ्र उत्पन्न नहीं होता ।

यह बाधा दो प्रकारकी होती है—सामान्य और बृहत् (बड़ी)। बाधा होने पर उच्चारण किया हुआ नाम—'नामाभास' होता है । नामाभास देरसे फल प्रदान करता है । बृहत् बाधा होने पर उच्चारण किया हुआ नाम—नामापराध हो पड़ता है, जो बिना निरन्तर नामोच्चारणके दूर नहीं होता ।'

विजय—'मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि साधकके लिये नामापराधका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। आप कृपा करके हमें नामापराधका विचार विस्तारपूर्वक बतलाईये ।'

बाबाजी—'नामापराध दस प्रकारके होते हैं। पद्मपुराणमें इसका बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण पाया जाता है—

(१) सतां निन्दा नाम्नः परमपराधं वितनुते ।
यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम् ॥

(२) शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुण नामादि-सकलं ।
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरि-नामाहितकरः ॥

(क) नामापराधयुक्त व्यक्तियोंके पाप और अपराध नाम ही नष्ट करते हैं । निरन्तर नाम करनेसे ही प्रेम रूप अर्थ या प्रयोजन प्राप्त होता है ।

(१) संतोंकी निंदा श्रीनामके निकट भीषण अपराध विस्तार करती है; जिन नाम-परायण संत-महात्माओंके द्वारा श्रीकृष्ण नामकी महिमाका संसारमें प्रचार होता है, उनकी निंदा श्रीनाम-प्रभु कैसे बर्दास्त कर सकते हैं ? अतः साधु-संतों की निंदा करना पहला अपराध है ।

(२) इस संसारमें जो मनुष्य बुद्धि द्वारा परम मङ्गलमय श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें भेद दर्शन करते हैं, अर्थात् भौतिक पदार्थोंकी तरह ही श्रीविष्णुके नाम, रूप गुण और लीलाको नामी-विष्णुसे पृथक मानते

(३) गुरोरवज्ञा (४) श्रुति-शास्त्र-निन्दनम्
(५) तथार्थवादो (६) हरि-नाम्नि कल्पनम् ।
(७) नाम्नो बलाद् यस्य हि पाप-बुद्धि-
र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः ॥
(८) धर्म-व्रत-त्याग-हुतादि-सर्व-
शुभ-क्रिया-साम्यमपि प्रमादः ।
(९) अश्रद्दधाने विमुखेऽथ शृण्वति
यश्चोपदेशः शिव नामापराधः ॥
(१०) श्रुतेऽपि नाम-माहात्म्ये यः प्रीति रहितो नरः ।
अहं-ममादि परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत् ॥

विजय—'कृपापूर्वक एक एक श्लोककी अलग-अलग व्याख्या करके अपराधोंको हमें समझा दीजिये ।'

बाबाजी—'पहले श्लोकमें दो अपराधोंका वर्णन किया गया है । (१) पहला अपराध यह है कि—जिन सन्तोंने कर्म,धर्म, ज्ञान, योग, तपस्या आदिका सम्पूर्णरूपसे परित्याग कर अनन्य भावसे भगवन्नाम का आश्रय ले रखा है, उनकी निन्दा करनेसे बड़ा अपराध होता है । क्योंकि जो लोग इस जगत्में नाम का वास्तविक माहात्म्य प्रचार करते हैं, उनकी निन्दा हरिनाम सह नहीं सकते हैं । ऐकान्तिक नाम-परायण सन्तोंकी निन्दा नहीं करनी चाहिए, वरं उनको सर्वश्रेष्ठ साधु मानकर उनके सङ्गमें रहकर नामकीर्तन करना चाहिए। ऐसा करनेसे नामकी बड़ी जल्दी ही कृपा होती है ।'

विजय—'पहला अपराध तो अच्छी तरह समझ गया, कृपया दूसरे अपराधको इसी प्रकार समझा दीजिए ।'

बाबाजी—'पहले श्लोकके दूसरे भागमें (२) दूसरे अपराधका उल्लेख है, उसकी व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—पहली व्याख्या यह कि—देवताओंके अग्रणी सदाशिव और श्रीविष्णु, दोनोंके नाम और गुण आदिको बुद्धि द्वारा पृथक मानेनेसे नामापराध होता है; तात्पर्य यह कि सदाशिवको भगवान् श्रीविष्णुसे पृथक एक स्वतंत्र शक्तिसिद्ध ईश्वर माननेसे बहु ईश्वरवादका दोष उपस्थित हो पड़ता है; इससे भगवानके प्रति अनन्य-भक्तिमें बाधा पैदा होती है । अतएव श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वर हैं और उनकी शक्तिसे ही शिव आदि देवताओंका ईश्वरतत्व सिद्ध है—इन देवताओंकी कोई पृथक शक्ति-सिद्धता नहीं है—ऐसा निश्चय कर हरिनाम करनेसे नामापराध नहीं होता ।' दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—शिव-स्वरूप अर्थात् सर्वमङ्गलमय स्वरूप श्रीभगवान् के नाम, रूप गुण और लीलाको भगवान्के नित्य-सिद्ध विग्रहसे पृथक माननेसे नामापराध होता है ।' इसलिये कृष्ण-स्वरूप, कृष्णनाम, कृष्णगुण और कृष्णलीला—सभी अप्राकृत और परस्पर अपृथक हैं—ऐसा ज्ञान और विज्ञान लाभ कर कृष्णनाम करना, नहीं तो अपराध हो जायगा । इस प्रकार सम्बन्ध-ज्ञान प्राप्त कर कृष्णनाम करनेकी विधि है ।'

हैं अथवा शिव आदि देवताओंको विष्णुसे स्वतंत्र अथवा विष्णुके समान मानते हैं, उनका वह हरिनाम (नामापराध) निश्चय ही अहितकर है । (३) नाम-तत्त्वविद् गुरुको मरणशील और पांचभौतिक शरीरयुक्त साधारण मनुष्य मानकर उनकी अवज्ञा करना; (४) वेद और सात्वत पुराण आदि शास्त्रोंकी निंदा करना; (५) हरिनामकी महिमाको अति स्तुति समझना और (६) भगवन्नामको काल्पनिक समझना अपराध है एवं (७) जिनकी श्रीनामके बल पर पाप-कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, वे उनकी अनेक यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि कृत्रिम योग-प्रक्रियाओंके द्वारा भी शुद्धि नहीं होती—यह निश्चय है । (८) धर्म, व्रत, त्याग, होम आदि प्राकृत शुद्ध कर्म्मोंको अप्राकृत भगवन्नामके समान या तुल्य समझना भी प्रमाद या असावधानी है; (९) श्रद्धाहीन और नाम-श्रवण करनेसे विमुख मनुष्यको नामका उपदेश देना भी नामापराध है । (१०) नामकी अद्भुत महिमाको सुनकर भी जो (रक्त, मांस और चमड़ेके) शरीरमें "मैं" और संसारिक भोग्य पदार्थोंमें "मेरा" की बुद्धि रखते हैं तथा श्रीनामोच्चारणमें प्रीति या आग्रह नहीं दिखलाते, वे भी नामापराधी हैं ।

विजयकुमार—'पहले और दूसरे नामापराधको भलीभाँति समझ गया; क्योंकि आपने कृपा करके हमें पहले ही श्रीकृष्णके अप्राकृत चिन्मय-स्वरूपके गुण-गुणी, नाम-नामी और अंश-अंशी आदि भेदाभेद तत्त्वको समझा दिया है। जो नामाश्रय करते हैं, उनके लिये श्रीगुरुदेवसे चिद् और अचित् तत्त्वका पार्थक्य और उनका परस्पर सम्बन्ध जान लेना आवश्यक है। अब तृतीय अपराधकी व्याख्या कीजिये।'

बाबाजी—'जो नाम तत्त्वकी सर्वश्रेष्ठताकी शिक्षा देते हैं, वे नाम गुरु हैं; उनके प्रति अचला भक्ति रखना कर्त्तव्य है। जो लोग नामगुरुके प्रति ऐसी अवज्ञा करते हैं कि वे केवलमात्र नाम-शास्त्र तक ही जानते हैं, परन्तु जो वेदान्त-दर्शन आदि शास्त्रोंके पण्डित हैं वे अधिक शास्त्रोंके अर्थ जानते हैं, वे नामापराधी हैं। वास्तवमें नाम-तत्त्वविद्गुरुसे उत्तम गुरु नहीं है; उनको लघु माननेसे अपराध होगा।'

विजय—'प्रभो! यदि हमारी आपके प्रति शुद्ध भक्ति रहे, तभी हमारा कल्याण है। कृपया चौथे अपराधकी व्याख्या कीजिए।'

बाबाजी—'श्रुतिमें जहाँ परमार्थके विषयमें विशेष शिक्षा है, वहाँ श्रीनामको सर्वश्रेष्ठ रूपमें वर्णन किया गया है। जैसे (हरिभक्तिविलास ११।-२७४-२७६ धृत ऋग्वेद १ मण्डल, १५६ सूक्त, ३ रा मन्त्र)—

ॐ आस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥ (क)

ॐ तत्सत्। ॐ पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवश्च आपन्नमृक्तम्। नामानि चिद्दधिरे यज्ञियानि भद्रायन्ते रणयन्तः संदृष्टौ ॥ (ख)

ॐ तमुस्तोतारः पूर्वं यथाविद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्त्तन। आस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥ (ग)

इस प्रकार सभी वेदों और उपनिषदोंमें नामकी महिमा पायी जाती है। जिन मन्त्रोंमें नामकी महिमा प्रकाशित हैं, उनकी निंदा करनेसे नामापराध होता है। कुछ लोग दुर्भाग्यवश श्रुतिके दूसरे उपदेशोंका सम्मान अधिक करते हैं तथा नाम-महिमा-सूचक श्रुति-मन्त्रोंकी उपेक्षा करते हैं। ऐसा करना भी नामापराध है। इस नामापराधका फल यह होता है कि अपराधीकी नाममें रुचि नहीं होती। तुमलोग इन प्रधान-प्रधान श्रुतिमन्त्रोंको श्रुतियोंका प्राण समझ कर हरिनाम करो।'

(क) हे विष्णो! जो मनुष्य तुम्हारे नामका विचारपूर्वक सत्य उच्चारण करते हैं, उनके भजन आदि नियमोंमें कोई गड़बड़ी नहीं होती। अर्थात् श्रीनाम-ग्रहणमें देश, काल और पात्र (अधिकारी) की विषमताका विचार नहीं है। क्योंकि नाम ही ज्ञान-स्वरूप हैं, सर्वप्रकाश स्वरूप हैं और परम ज्ञातव्य विषय हैं। अतएव हम नामकी वन्दना करते हैं।

(ख) हे परमपूजनीय! आपके चरणकमलोंमें मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ, क्योंकि इन्हीं श्रीचरणकमलोंकी महिमा सुनकर भक्तजन यश और मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं। और तो क्या, जो आपके चरणकमलोंका निर्वाचन करनेके लिये वाद-विवादमें प्रवृत्त होते हैं और परस्पर कीर्त्तनके द्वारा उनका अनुशीलन करते हैं, उनके अन्तःकरणमें आसक्तिका प्रादुर्भाव होने पर वे उन चरणोंका साक्षात्कार करनेके लिये श्रीचैतन्य-स्वरूप आपके नामका ही आश्रय लेते हैं।

(ग) "उ" अर्थात् अत्यन्त विस्मयके साथ कहा जा रहा है कि उस प्राचीन, प्रसिद्ध, पूर्ण "तत्" और "सत्" पदार्थको श्रीकृष्णके सम्बन्धमें जैसा तुम लोग जानते हो, वैसा ही कीर्तन कर जन्मकी सार्थकता करो। परन्तु हम लोग वैसे नहीं करते। इसका कारण यह है कि जब हम यह नहीं जानते कि उनका स्तव अथवा कीर्तन कैसे किया जाता है, तब चिर-निरवच्छिन्न 'नाम' करना ही हमारा नित्य कार्य है।

विजय—'प्रभो ! आपके श्रीमुखसे मानों अमृत बरस रहा है। अब पाँचवें अपराधको समझनेके लिये बड़ी उत्कंठा हो रही है।'

बाबाजी—'हरिनाममें अर्थवाद ही पाँचवा नामापराध है। जैमिनी-संहितामें इस अपराधका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

श्रुति-स्मृति-पुराणेषु नाम-माहात्म्य-वाचिषु ।
येऽर्थवाद इति ब्रूयुन तेषां निरय-क्षयः ॥ (क)

ब्रह्मसंहितामें बोधायनके प्रति श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यन्नाम-कीर्तन-फलं विविधं निशम्य
न श्रद्दधाति मनुते यदुतार्थवादम् ।
यो मानुषस्तमिह दुःखचये क्षिपामि
संसार घोर-विविधार्त्ति-निपीडिताङ्गम् ॥ (ख)

शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि भगवन्नाममें भगवान्‌की सारी शक्तियाँ निहित हैं; नाम पूर्ण चिन्मय हैं, अतएव वे मायिक जगत्‌को ध्वंस करनेमें समर्थ हैं।

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्त्तते ।
भस्मी-भवन्ति राजेन्द्र महापातक कोटयः ॥ (ग)
(विष्णुधर्म)

नान्यत् पश्यामि जन्तूनां विहाय हरि कीर्त्तनम् ।
सर्वपाप-प्रशमनं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तम ॥ (घ)
(बृहन्नारदीय)

नाम्नोऽस्य यावती शक्तिः पाप निर्हरणे हरेः ।
तावत् कर्त्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः ॥ (ङ)
(विष्णु पुराण)

ये सब नाम-माहात्म्य परम सत्य हैं, इन्हें सुन कर कर्म और ज्ञान-व्यवसायी लोग अपने-अपने व्यवसायकी रक्षाके लिये इनमें अर्थवादकी कल्पना करते हैं। अर्थवादका तात्पर्य यह है कि शास्त्रमें नामकी जो महिमा कही गयी है, वास्तवमें सत्य नहीं है; यह तो केवल नाममें रुचि उत्पन्न करानेके करने के लिये बढ़ा चढ़ाकर कही गयी है। इस नामापराधसे अपराधी व्यक्तिकी नाममें रुचि नहीं होती। तुम दोनों शास्त्रीय वचनों पर पूर्ण विश्वास कर हरिनाम करना। जो अर्थवाद करते हैं, उनका कभी भी संग न करना। और तो क्या, यदि अकस्मात कहीं वे तुम्हारी आँखोंके सामने भी पड़ जाँय तो साथके समस्त कपड़ोंके साथ स्नान कर लेना,—यह श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा है।'

विजय—'प्रभो ! गृहस्थ लोगोंके लिये शुद्ध हरिनाम उच्चारण करना सरल नहीं जान पड़ता, क्योंकि वे सब समय नामापराधी असत पुरुषोंसे घिरे हुए होते हैं। हम जैसे ब्राह्मण-पण्डितोंके लिये सत्सङ्ग बड़ा ही कठिन है। हे प्रभो ! आप कृपा कर हमें कुसङ्ग-छोड़नेकी शक्ति प्रदान कीजिये। आपके मुँहसे जितना ही अधिक श्रवण कर रहा हूँ, श्रवणकी

(क) भगवन्नामकी महिमाको प्रकाश करनेवाले वेद-पुराण और उपनिषद् आदिके मंत्रोंकोजो अतिस्तुति रूप 'अर्थवाद' मानते हैं, वे अक्षय नरकमें गमन करते हैं और वहाँसे उनका कभी भी लौटना नहीं होता।

(ख) जो मनुष्य हरिनामकी महिमा सुनकर भी उनके प्रति श्रद्धायुक्त नहीं होता, वरं उस महिमाको अतिस्तुति समझता है, उसको मैं सब प्रकारके दुःखोंसे परिपूर्ण घोर संसारमें फेंक देता हूँ।

(ग) हे राजन् ! जिनके मुखमें परम मङ्गल-स्वरूप 'कृष्ण' नाम निवास करते हैं, उनके कोटि-कोटि महापातक जलकर भस्म हो जाते हैं।

(घ) हे विप्रवर ! जो समस्त पापोंको ध्वंश करनेवाले प्रायश्चित्त-स्वरूप श्रीहरिनामका परित्याग करते हैं, मैं उनको पशुके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं समझता।

(ङ) श्रीहरिके इस नाममें पाप हरण करनेकी जितनी शक्ति विद्यमान है अत्यन्त पापी व्यक्ति भी उतना पाप करनेमें समर्थ नहीं है।

पिपासा और भी अधिक बढ़ती जा रही है। अब छठा अपराध बतलानेकी कृपा करें।'

बाबाजी—(६) भगवान्‌के नामोंको कल्पित माननेसे छठा अपराध होता है। मायावादी और भौतिककर्मवादी निर्विकार और नाम-रूप-रहित ब्रह्मको परम तत्त्व मानते हैं। जो ऐसा मानते हैं कि ऋषियोंने अपने कार्योंकी सिद्धिके लिये राम-कृष्ण आदि नामोंकी कल्पना की है—वे नामापराधी हैं। हरिनाम काल्पनिक नहीं, वरन् नित्य और चिन्मय वस्तु है—भक्तिके द्वारा चिद् इन्द्रियों पर आविर्भूत मात्र होते हैं। सद्गुरु और वेद-शास्त्र यही शिक्षा देते हैं। अतः हरिनामको परम सत्य मानना; उन्हें कल्पित समझनेसे कभी भी नामकी कृपा नहीं पायी जा सकती है।

विजय—'प्रभो! आपके अभय चरण कमलोंका आश्रय करनेसे पूर्व कुसङ्गके कारण हम भी वैसा ही समझते थे, परन्तु आपकी कृपासे वैसी बुद्धि अब जाती रही है। अब सातवें अपराधकी व्याख्या कीजिए।'

बाबाजी—'(७) जो नामके बल पर पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, वे नामापराधी हैं। नामके भरोसेसे जो पाप-कर्म किये जाते हैं, वे पाप-समूह यम-नियम आदिसे दूर नहीं होते, क्योंकि ऐसे पाप-समूह नामापराधकी श्रेणीमें आजानेके कारण केवल मात्र नामापराध-विध्वंसक पद्धति द्वारा ही नष्ट किये जा सकते हैं।

विजय—'प्रभो! जब ऐसा कोई भी पाप नहीं, जो हरिनामसे नष्ट न हो जाय, तब नामोच्चारणकारीके पाप नष्ट न होकर अपराधकी श्रेणीमें क्यों आ जाते हैं?'

बाबाजी—'जीव जिस दिन शुद्ध-नाम ग्रहण करता है, उस दिन उसके द्वारा लिया गया एक हरिनाम ही उसके प्रारब्ध और अप्रारब्ध सम्पूर्ण-पापराशिको ध्वंस कर देता है; और उस नामके पश्चात् जो दूसरे नाम ग्रहण किये जाते हैं, उनसे नाममें प्रेम होता है। अतएव शुद्ध हरिनाम करनेवाले पुरुषोंमें पाप-बुद्धिका रहना तो दूरकी बात है, पुण्य कर्मोंमें भी उनकी रुचि नहीं होती। नामाश्रित व्यक्ति कभी भी पाप नहीं करेंगे। परन्तु इसमें एक विचार है, वह यह कि साधक पुरुष नाम तो लेते हैं, परन्तु उनका कुछ कुछ नामापराध रहनेके कारण उनका उच्चारित नाम केवल 'नामाभास' होता है शुद्धनाम नहीं होता। नामाभाससे भी पहले किये हुए पाप ध्वंस हो जाते हैं और नवीन पापोंमें रुचि नहीं होती, परन्तु पूर्व अभ्यासके कारण कुछ कुछ पाप बच रहते हैं, जो नामाभाससे धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं। अकस्मात कभी नये पाप भी बन जाते हैं; परन्तु वे भी नामाभाससे दूर हो जाते हैं। किन्तु यदि वह नामाश्रयी पुरुष ऐसा सोचता हो कि जब नामके प्रभावसे सारे पाप तो नष्ट हो ही जाते हैं, तब मैं भी जो पाप करता हूँ, वे भी अवश्य ही नष्ट हो जायेंगे, और ऐसा समझकर वह पाप कार्यमें प्रवृत्त होता है तो वह नामापराधी है।'

विजय—'अब आठवाँ अपराध बतलाइए।'

बाबाजी—'(८) धर्म अर्थात् वर्णाश्रम और दानादि धर्म, व्रत अर्थात् समस्त प्रकारके शुभ कर्म त्याग अर्थात् सर्व-कर्मफल-त्यागरूप संन्यास-धर्म, नानप्रकारके यज्ञ और अष्टाङ्ग योग—ये सभी सत्कर्म हैं। इनको छोड़ कर शास्त्रोंमें जो दूसरी-दूसरी शुभ क्रियाएँ निर्धारितकी गयी हैं, वे सभी जड़ धर्मके अन्तर्गत हैं, अतएव प्राकृत हैं; परन्तु भगवन्नाम प्रकृतिसे परे हैं। पूर्वोक्त समस्त सत्कर्म उपायके रूपमें उपस्थित होकर अप्राकृत सुख-रूप उपेय देनेकी प्रतिज्ञा करते हैं; इसलिये वे केवल उपाय मात्र हैं—उपेय नहीं। परन्तु हरिनाम साधनके समय उपाय होने पर भी फलके समय स्वयं उपेय हैं। अतः हरिनामके साथ किसी भी सत्कर्मकी तुलना नहीं की जा सकती। जो लोग ऐसा करते हैं अर्थात् हरिनाम और सत्कर्मोंको बराबर मानते है, वे नामापराधी हैं। यदि कोई उन कर्मोंसे मिलने वाले तुच्छ फलोंके लिये श्रीहरिनामसे प्रार्थना करते हैं तो वे नामापराधी हैं। क्योंकि वे इससे दूसरे-दूसरे सत्कर्मोंके साथ श्रीनामकी

साम्यबुद्धि हो पड़ती हैं। तुम लोग सत्कर्मोंके फलोंको तुच्छ जानकर हरिनामका अप्राकृत बुद्धिसे आश्रय करो—इसीका नाम अभिधेय-ज्ञान है।'

विजय—'प्रभो! हम यह भलीभाँति समझ गये कि हरिनामके समान और कुछ भी नहीं है। अब नवें अपराधके सम्बन्धमें बतलाइये।'

बाबाजी—'(९) वेदोंमें जितने प्रकारके उपदेश हैं उनमें हरिनामका उपदेश सर्वश्रेष्ठ है। जिनकी अनन्यभक्तिमें श्रद्धा हो गयी है, वे ही हरिनामके यथार्थ अधिकारी हैं। जिनको वैसी श्रद्धा नहीं है, जो अप्राकृत हरि-सेवासे विमुख हैं एवं हरिनाम श्रवण करनेमें जिनको अरुचि है, उन्हें हरिनामका उपदेश करनेसे नामापराध होता है। वैसे लोगोंको यही उपदेश देना श्रेयस्कर होगा कि हरिनाम ही सर्वश्रेष्ठ है और हरिनाम ग्रहण करनेसे सबका कल्याण होगा। योग्य अधिकारीके अतिरिक्त दूसरोंको हरिनाम नहीं देना चाहिए। जब तुम परम-भागवत हो जाओगे, तो तुम भी शक्तिका संचार कर सकोगे। सर्वप्रथम जीवमें शक्ति संचारकर उसमें नामके प्रति श्रद्धा पैदा करो, पश्चात् उसे हरिनाम उपदेश करना। जब तक मध्यम वैष्णव रहो, तब तक अश्रद्धालु, विमुख और विद्वेषी पुरुषोंकी उपेक्षा करना।'

विजय—'प्रभो! कुछ लोग अर्थ-सम्पत्ति अथवा प्रतिष्ठाके लोभवश अनाधिकारीको भी हरिनाम-प्रदान करते हैं, उनका यह आचरण कैसा है?'

बाबाजी—'वे नामापराधी हैं।'

विजय—'कृपया दसवें अपराधकी व्याख्या कीजिए।'

बाबाजी—(१०)'जो लोग जड़ीय संसारमें 'मैं अमुक हूँ और यह सारी सम्पत्ति और पुत्र-परिवार आदि मेरे हैं'—इस प्रकार बुद्धिसे मत्त रहते हैं, संयोगवश कभी क्षणिक वैराग्य या ज्ञानके उदय होने पर पण्डितोंके पास हरिनामकी महिमा सुनते हैं, अथच जान-सुन कर भी नाममें अनुराग नहीं रखते, वे भी नामापराधी हैं। इसलिये शिक्षाष्टकके दूसरे श्लोकमें कहा गया है—

नाम्नामकारि बहुधा निज सर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः। (क)

बाबा! इन दस प्रकारके नामापराधोंसे रहित होकर निरन्तर हरिनाम करो—नाम शीघ्र ही कृपा कर प्रेम प्रदान कर परमभागवत कर देंगे।'

विजय—'प्रभो! देख रहा हूँ कि मायावादी, कर्मी और योगी—सभी नामापराधी हैं। ऐसी दशामें जब बहुतसे लोग मिलकर जो नामसंकीर्तन करते हैं, उसमें शुद्ध वैष्णवोंको योगदान करना चाहिए कि नहीं?

बाबाजी—'जिस संकीर्त्तन मण्डलमें नामापराधियोंकी प्रधानता हो, अर्थात् जिस नाम-संकीर्त्तन मण्डलीमें नामापराधी व्यक्ति प्रधान गायक आदिके रूपमें कीर्त्तन करें, उसमें वैष्णवजनोंका योगदान करना उचित नहीं है; परन्तु जिस संकीर्त्तन मण्डलीमें शुद्ध वैष्णवों अथवा साधारण नामाभासी व्यक्तियोंकी प्रधानता हो, उसमें योगदान करनेसे दोष नहीं होता, वरन नाम संकीर्त्तन में आनन्द लाभ होता है। आज अधिक रात हो गयी है, कल नामाभासके सम्बन्धमें बतलाऊँगा।'

विजय और ब्रजनाथ नाम-प्रेमसे गद्गद् होकर बाबाजी महाशयकी स्तुति कर तथा उनकी चरण-धूलि मस्तक पर धारण कर 'हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः' कीर्तन करते हुए घर लौटे।

चौबीसवाँ अध्याय समाप्त।

(क) भगवन्! आपने अपने गोविन्द, गोपाल, वनमाली आदि अनेक नाम प्रकट कर रखे हैं और इन नामोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति निहित कर रखी है। श्रीनामस्मरणमें काल-अकालका विचार भी नहीं रखा है। आपकी इस प्रकारकी कृपा है और इधर नामापराधरूप दुर्दैवके कारण मेरा इस प्रकारका दुर्भाग्य है कि ऐसे सुलभ हरिनाममें मेरी रुचि नहीं होती।

श्रीविग्रह एवं मठ-मंदिर

[५ आषाढ़ शनिवारको मेदिनीपुर जिलेके अन्तर्गत पिछलदा नामक गाँवमें 'श्रीपिछलदा गौड़ीय मठ' और श्रीविग्रह-प्रतिष्ठाके दिन संध्या ६॥ बजे दिये गये श्रीश्रीआचार्यदेवके बँगला भाषणसे अनुदित]

आज यहाँ पिछलदा ग्राममें श्रीगौड़ीय मठ और श्रीविग्रह प्रतिष्ठाके उपलक्ष्यमें आप असंख्य लोगोंको उपस्थित देख कर हृदयमें कुछ-कुछ आशाका संचार हो रहा है। अनेक दिनोंकी पराधीनताकी शृंखलासे मुक्त हुए अभी देशको केवल कुछ ही वर्ष हुए हैं। उस स्वाधीनताके नाम पर आप लोग किस परिणाममें आनन्द अनुभव कर रहे हैं, यह तो आप लोगोंका हृदय ही बतलावेगा; परन्तु भारतके अनेक भागोंमें भ्रमण कर स्वाधीन भारतकी स्वाधीन-धर्मालोचनाके सम्बन्धमें मैंने अपने जीवनमें जो कुछ उपलब्धि की है, उसमेंसे दो-एक बातें आप लोगोंके सामने निवेदन कर रहा हूँ। मेरे हृदयमें आशाका संचार हुआ है—ऐसा मैंने कहा है; क्यों—इस स्थल पर इस विराट जन-समूहको देख कर। दुर्भाग्यसे आजकी स्वाधीनतामें धर्मका सर्वोच्च स्थान नहीं है। और तो क्या, धर्म-निरपेक्षताके नाम पर अधर्म-सापेक्षताका ही सर्वत्र बोलबाला है। फल-स्वरूप हमारे देशमें अत्यन्त अल्प समयके भीतर ही समाजके प्रत्येक वर्गके छोटेसे बड़े सबके अन्दर ऐसी दुर्नैतिकता, उच्छृंखलता, असत्‌चिन्ता प्रविष्ट हो चुकी है कि उसे भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

मनुष्यकी चित्तवृत्तिको निम्नगामी बना देना अत्यन्त सहज है, परन्तु उसे ऊर्द्धगामी अथवा उन्नत करना वैसा सहज नहीं। ऐसा देखा जाता है कि अनेक प्रयत्न किये जाने पर भी ऐसा संभव नहीं होता। आजकल साम्यवादकी ओटमें उन्नत व्यक्तिको बलपूर्वक नीचे गिरा कर उसे निम्न श्रेणीके व्यक्तिके बराबर करनेकी बड़ी प्रबल चेष्टा चल रही है। परन्तु निम्न श्रेणीके व्यक्तिको ऊँचा उठा कर उसे उन्नत व्यक्तिके बराबर बनानेकी तनिक भी चेष्टा नहीं हो रही है। अतएव वर्त्तमान समयमें राजनैतिक, समाजनैतिक, अर्थनैतिक एवं शिक्षानैतिक—सभी क्षेत्रोंमें हम ऐसा लक्ष्य करते हैं कि आज भारतके सामने संकटकी विभिषिका अपना विराट मुख फैला कर उसे निगलनेके लिये खड़ी है तथा धर्मकी अभ्रभेदी हाहाकार और आर्तनाद सारे भारतकी हृदयगुफामें गंभीरतम भीतिका संचार कर रहे हैं। वास्तवमें धर्मकी अवनति केवल भारतकी ही अवनति नहीं—विश्वकी अवनति है। धर्म निरपेक्षताकी आड़में उच्छृंखलमय जीवन बितानेके लिये नाना प्रकारके उपायोंका आविष्कार देशके लिये कदापि मङ्गलजनक नहीं है। परन्तु इस दुर्दिनमें भी एक धर्म-प्रतिष्ठानके प्रतिष्ठा-समारोहमें ऐसे विराट जन-समूहको देख कर हृदयमें आशाका संचार हो रहा है। भारतभूमि—पुण्यभूमि है—धर्मभूमि है। हम गीतामें देख पाते हैं कि विराट युद्धभूमिको भी धर्म-क्षेत्र कहा गया है।

पिछलदा ग्राम और ग्रामवासी

पिछलदा ग्राम श्रीमन्महाप्रभुका पदांकपूत स्थान है। श्रीजगन्नाथपुरी और श्रीनवद्वीपके मार्गमें श्रीचैतन्य महाप्रभुने इस ग्राममें कुछ देर तक विश्राम किया था—पिछलदाके माहात्म्यका यही प्रधान कारण है। यों तो उक्त मार्ग पर स्थित पग-पगकी भूमि श्रीमन्महाप्रभुके चरणकमलोंके स्पर्श जन्य परम पवित्र है, परन्तु महाजनोंने केवल उन्हीं स्थानोंका नामोल्लेख और माहात्म्य-वर्णन किया है, जहाँ पर श्रीमन्महाप्रभु

जीने कृपा पूर्वक विश्राम किया था। ऐसे-ऐसे स्थानोंमें पिछलदाका एक महत्वपूर्ण स्थान है। पिछलदाके इर्द-गिर्द के ग्रामसमूह भी श्रीमन्महाप्रभुके पदांकपूत स्थानोंके पवित्र वातावरणमें ही समृद्ध रहे हैं। इसलिये हम पिछलदा और उसके आस-पासके ग्रामोंके निवासियोंके सौभाग्यकी सराहना कर हमारे प्रति उनकी सहानुभूतिके लिये उन्हें धन्यवाद ज्ञापन कर रहे हैं। विशेषतः पिछलदा ग्रामवासियोंकी धर्मभावसे युक्त चित्तवृत्ति, उनका भगवत्सेवामें उत्साह, उनकी सरलता आदि गुणोंने मुझे इतने आकृष्ट किये हैं कि मैं इस दारिद्र्य पीड़ित, दुर्गमस्थानमें भी श्रीमन्महाप्रभुका पादपीठ स्थापन करनेमें तनिक भी नहीं हिचका। और तो क्या, वही श्रीचैतन्य-पादपीठ अपने पीछे एक मठको भी प्रकाशित करनेमें समर्थ हुआ है। इस विराट कार्यके मूलमें कतिपय आदर्श पुरुषोंकी प्रणमयी चेष्टाएँ हैं। उनका नामोल्लेख न करना अकृतज्ञता होगी—कल्याणपुर निवासी श्रीपाद गजेन्द्रमोक्षन प्रभु, डि. कासिमपुरके के श्रीयुत प्रबोधचन्द्र पड्या, पिछलदाके श्रीयुत गौर-गोविन्द दासाधिकारी और रक्षित-परिवारके लोगों के उत्साह और प्रबल प्रयत्नोंने मुझे अधिक रूपमें आकृष्ट किये हैं। सबके मूलमें हैं—परम-स्नेह भाजन श्रीसुदाम सखा ब्रह्मचारी। श्रीसुदाम सखा ब्रह्मचारीने ही सर्वप्रथम मुझे पिछलदा ग्राममें आकर्षण किया। उसका अक्लांत परिश्रम आज भी मेरी आँखोंके सामने नाच रहा है।

प्रतिष्ठित श्रीविग्रहोंका परिचय

आपलोगोंने आज प्रातःकालसे आरम्भ कर ढाई बजे तक श्रीमठ और श्रीविग्रह-प्रतिष्ठाका अनुष्ठान दर्शन किया है। आपलोगोंने यह भी दर्शन किया है कि श्रीमन्दिरमें दाहिनेसे बायें क्रमशः श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्रीश्रीमन्महाप्रभु एवं श्रीश्रीविनोदविहारीजी और श्रीश्रीराधारानी विग्रहके रूपमें प्रतिष्ठित हुए हैं। ये चारों विग्रह एक ही सिंहासनके ऊपर प्रतिष्ठित होने पर भी इसमें आपलोग दो प्रकोष्ठ दर्शन कर रहे हैं। एक दक्षिण प्रकोष्ठ और दूसरा उत्तर या वाम प्रकोष्ठ। दक्षिण प्रकोष्ठमें औदार्ययुगल श्रीश्रीगौर नित्यनन्द-विग्रह और वाम य उत्तर प्रकोष्ठमें माधुर्ययुगल श्रीराधा-विनोदविहारीजी विराजमान हैं। ये चारों विग्रह मेरे श्रीगुरुदेवके हृदयमें नित्य वर्तमान रहनेके कारण श्रीगुरुदेवकी आलेख्यमूर्ति यहाँ आविर्भूत हुई हैं। श्रीनित्यानन्द ही श्रीगुरुदेव हैं। तत्त्वतः एक होने पर भी लीलागत वैशिष्ट्य होनेके कारण मेरे साक्षात् उद्धारकर्त्ता ॐविष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीकी आलेख्य-मूर्तिकी पूजा उक्त चारों श्रीविग्रहोंसे पहलेकी जायगी।

श्रीविग्रहोंका जय गान

मेरे श्रीगुरुदेव श्रीश्रीराधा-विनोदविहारीजीको गान्धर्विका-गिरिधारीके रूपमें उपास्य जानते थे। तत्त्वतः लीलागत साध्यगत, साधनगत विचारसे इनमें कोई भेद न होनेके कारण हमलोग श्रीगुरुदेव के प्रतिष्ठित विग्रहोंको 'गुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी' कह कर जय देते हैं। पिछलदा पादपीठसे लगे हुए पिछलदा गौड़ीय मठके श्रीविग्रहोंकी जय भी गुरुदेवके द्वारा दी गयी पद्धतिके अनुसार दी जानेसे कोई आपत्ति नहीं होगी। यह सर्वदा स्मरण रखने योग्य है कि श्रीगुरुदेवका जयगान ही श्रीनित्यानन्द प्रभुकी जय है। श्रीश्रीनित्यानन्द प्रभु साक्षात् बलदेव है। अतएव उनको श्रीमतीराधारानी के साथ एक प्रकोष्ठमें रखनेसे रसाभास दोष होगा। इसलिये श्रीमतीराधारानी कृष्णके साथ एक प्रकोष्ठमें अवस्थित हैं। 'गुरुगौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारी' एवं 'गौर-नित्यानन्द प्रभु—इन दोनों युगलोंकी जय अलग-अलग देनी होगी। समितिके श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ चुँचुड़ाके श्रीविग्रहोंके सम्बन्धमें भी यही पद्धति लागू है।

मठ किसे कहते हैं?

मठ किसे कहते हैं, इसे जान लेना आवश्यक है। शास्त्रकारोंने 'मठ'-शब्दका प्रयोग जिस अर्थमें

किया है, हमें उसके दायरेसे बाहर जाना उचित नहीं। 'मठ-धातुका अर्थ है—'वास करना' अर्थात्-जहाँ निवास किया जाय उस गृहको मठ कहते हैं। अतएव 'मठ' और 'गृह'—इन दोनों शब्दोंमें धातु-प्रत्यय-गत कोई पार्थक्य नहीं है। 'मठ' धातुमें अल्-प्रत्यय लगा कर 'मठ'-शब्द बना है। तथापि साधारण गृहको अथवा किसी गृहस्थके गृहको मठ नहीं कहा जा सकता है। शब्दकी विद्वद्रूढ़ि-वृत्तिका विचार करनेसे ऐसा दिखलाई पड़ेगा कि एक-एक पद या शब्द पृथक् पृथक् रूपमें एक-एक वस्तुको लक्ष्य करता है। उसीको शब्दका अर्थ कहा जाता है। विद्वद्रूढ़ि या अभिधावृत्तिका अवलम्बन कर शब्दार्थ करनेसे घर और गृह आदि शब्दोंका मठ शब्दसे प्रचुर पार्थक्य देखा जाता है। अतएव शास्त्रकारोंने 'मठ-शब्दका अर्थ किया है—'मठन्ति वसन्ति छात्रादयो यत्र मठः।' इस वचनमें 'छात्रादयः' एक पद है। इस पदके अंतर्गत 'आदि' शब्दकी व्याख्या विद्वानोंने इस प्रकारकी है—'अस्मिन् वाक्ये आदि-शब्देन परिव्राजक-क्षपणकादिणां ग्रहः।' अतएव जहाँ छात्रादि निवास करते हैं, उसीको मठ कहते हैं। इस जगह 'आदि' शब्दसे परिव्राजक, क्षपणक अर्थात् संन्यासी, ब्रह्मचारी आदिके निवास-स्थानको लक्ष्य किया गया है। ऐसा कहनेके लिये दूसरे कारण भी विद्यमान हैं। गृह और मठका पार्थक्य बतलाते हुए शास्त्रकारोंने कहा है—'न गृहं गृहमित्याहुः, गृहिणी गृहमुच्यते।' अर्थात् घर, या गृहको ही गृह नहीं कहा जाता, गृहिणी' को ही गृह या घर कहा जाता है। गृहस्थका गृह या घर ही 'गृह' है और त्यागी संन्यासी-ब्रह्मचारियोंका गृह ही 'मठ' है। अतएव गृह और मठ एक नहीं हैं। बाह्यतः एक ही उपादानसे गठित होने पर भी दोनों एक नहीं हैं।

मनु आदि संहिताकारों और पराशर आदि स्मृतिकारोंने श्रीमठ आदिमें श्रीमन्दिरका रहना अत्यन्त आवश्यक बतलाया है। इसलिये वर्त्तमान भारतीय देवोत्तर कानूनमें देव-मंदिरके बिना किसी मठ आदि की अवस्थिति स्वीकृत नहीं है। शास्त्रकारोंने केवल मात्र छात्रोंकी मायिक या सांसारिक शिक्षा अथवा निराकार निर्विशेष विचार-धाराकी शिक्षाके लिये ही मठ-मंदिरोंकी आवश्यकता उपलब्धि नहीं की है। क्योंकि छात्रोंके निवास-स्थान होने पर भी आधुनिक स्कूल और कालेजोंके छात्रावास या बोर्डिङ्ग हाउस आदिको कदापि मठ नहीं कहा जा सकता है। आजकल प्रत्येक बोर्डिङ्गमें परिचालक या सुपरिटेण्डेन्टके रूपमें एक शिक्षक नियुक्त रहते हैं। केवल ऐसे शिक्षक और छात्रोंके रहनेके स्थानको मठ नहीं कहा जा-सकता। और तो क्या, वैसे-वैसे संन्यासी-ब्रह्मचारियों के निवास-स्थानको भी 'मठ' नहीं कहा जा सकता, यद्यपि शास्त्रकारोंके विचारके अनुसार 'मठ' शब्दका तात्पर्य 'मठन्ति वसन्ति छात्रादयः' बतलाया है। इसका कारण यह है कि जहाँ श्रीविग्रह विराजमान नहीं हैं अर्थात् जहाँ उपास्य तत्त्वका श्रीमंदिर प्रतिष्ठित नहीं है, वह स्थान कदापि मठ नहीं कहा जा सकता है। 'मठ' कहनेसे श्रीमंदिरकी अवस्थिति अवश्य ही समझी जायगी। अतएव "मठ-मंदिर" यह यौगिक-शब्द हमारे मठ-शब्दका वास्तविक अर्थ सूचित करता है। अँग्रेजी भाषाके शब्दविन्यासमें जिस प्रकार Qऔर U का सम्बन्ध है, उसी प्रकार मठ और मंदिर शब्दोंका भी परस्पर सम्बन्ध है। मठमें संन्यासी—शिक्षक हैं और ब्रह्मचारी—छात्र हैं। वानप्रस्थी अपने २ अधिकारके अनुसार कोई शिक्षक हैं, तो कोई छात्र हैं। अतएव 'मठ' कहनेसे त्यागियोंका आश्रम ही समझना होगा। त्यागीका तात्पर्य गृहत्यागी संन्यासी, ब्रह्मचारी और वानप्रस्थीसे है, विशेषतः उक्त तीन आश्रमोंके भगवद्भक्तोंसे ही है। त्यागका प्रधान उद्देश्य है—भगवान्की उपासना। भगवत् उपासनाके बिना त्याग नितांत शुष्क और निरर्थक है।

मठका उद्देश्य

शास्त्रकारोंने मठ-मंदिरोंकी आवश्यकता पर अत्यधिक बल क्यों दिये हैं? इसका कारण अनुसंधान करना आवश्यक है। मठ-मंदिरोंकी आवश्यकता है—विश्ववासियोंको मायाके जालसे अर्थात् सत्त्व-रज-

तम त्रिगुणोंकी पीड़ासे छुटकारा पानेकी शिक्षा देने के लिये। त्रिगुणके अन्तर्गत किसी स्थानमें रह कर गुणोंसे अतीत होना अत्यन्त कठिन है। अतएव विशुद्ध सत्त्व-स्थान अर्थात् निर्गुण-स्थानही हमारे उद्धारका एकमात्र स्थान है। मठ-मंदिर ही वह निर्गुण स्थान है। हमें यहीं निवास करना कर्त्तव्य है।

निर्गुण स्थानका परिचय

साधारण दार्शनिक 'निर्गुण-स्थान' का तात्पर्य कुछ भी समझ नहीं पाते। उनके विचारसे जो कुछ भी कहा जाता है, समझा जाता है, वह सब कुछ मायाके अन्तर्गत सगुण है। अतएव यदि कुछ समझनेकी कोई चेष्टा की जाती है, तो उसे मायामें प्रवेश करनेकी इच्छा ही कही जायगी। उनका सिद्धान्त यह है कि मायासे परे कुछ भी नहीं है। निर्गुण शब्द मिथ्या धारणाका परिपोषक शब्द मात्र है।' अतएव मायासे अतीत राज्यमें पहुँचनेके मिस बहुतसे भारतीय सम्प्रदायोंमेंसे किसीने शून्यदेशको, किसीने ब्रह्मदेशको, किसीने बहिस्तको, किसीने हेभेनको और किसीने दयाल देश आदिको निर्गुण कल्पित किया है। वास्तवमें इनमेंसे किसीको भी निर्गुण-स्थान नहीं कहा जा सकता है। शास्त्रीय युक्तिकी बात तो अलग रहे, साधारण लौकिक युक्तिसे भी इनका विचार अतिशय हीन प्रमाणित होता है। मैं बौद्ध, शांकर, महम्मदीया, इसाई, कबीर, नानक आदि पन्थियोंके विचारोंको विशेष रूपमें लक्ष्य करता हूँ। ये सभी निराशारवादी हैं, अतएव नास्तिक श्रेणीमें हैं। साकार-निराकारवादके सम्बन्धमें मैं आगे आलोचना करूँगा। इस समय निर्गुणके सम्बन्धमें एक शास्त्रीय सिद्धान्त पर उपनीत होना आवश्यक है। "निर्गुण कहनेसे प्राकृत गुणरहित एवं अप्राकृत गुण-समष्टिका बोध होता है।" गुण कहनेसे प्राकृत और अप्राकृत दोनों ही श्रेणियोंके गुणोंका बोध होता है। गुण मात्र ही दोषपूर्ण है—यह विचार ठीक नहीं है। गुणग्राही पुरुष कभी भी ऐसा नहीं कहेंगे। जो गुणोंका आदर करना नहीं जानते, केवल वे ही व्यर्थ ही निर्गुणका आदर करते हैं। "गुणका आदर न करना ही सर्व प्रधान दोष है अतएव जो लोग गुणों का आदर न कर निर्गुणका आदर करते हैं वे सब प्रकारके दोषोंसे दूषित हैं।" अतएव निराकारवादियोंमें असत स्वभावके लोगोंका अधिक प्रादुर्भाव देखा जाता है। गुणोंका आदर नहीं करना ही इसका प्रधान कारण है। यदि गुणोंका आदर न किया जाय तथा समस्त सद्गुणोंका परित्याग कर दिया जाय, तो मानवकी मानवता ही कहाँ रही ? निर्गुणवादी निर्गुणशब्दका एक अभिनव और असंभव अर्थ करते हैं। उनका निर्गुण—शास्त्रीय निर्गुणसे सर्वथा पृथक् है। शास्त्रकारोंने प्राकृत हेयगुणोंका निषेध करनेके लिये निर्गुण शब्दका प्रयोग किया है। अर्थात् जिन गुणोंकी नित्यस्थिति नहीं है, वे प्राकृत और हेयगुण हैं। और जिन गुणोंकी नित्यस्थिति है, वे अप्राकृत गुण हैं। (क्रमशः)

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज

पापका परिचय और उसकी सीमा

मेरे एक सहृदय मित्र श्रीमान् किशनचन्द माहेश्वरी (सुप्रीम कोर्टके वकील) ने हमसे पूछा है कि पापका परिचय क्या है ? उसके उत्तरमें हमारा कहना यह है कि प्राकृत भौतिकवाद ही पापका परिचय है। जिस प्रकार मलेरिया या टाइफाइड रोगका परिचय बुखार आदि लक्षणोंसे पाया जाता है, उसी प्रकार

शुद्धजीव जिस समय कामन-वासना और द्वेष द्वारा परिचालित होकर (जड़ा) प्रकृतिके वशमें हो जाता है, अर्थात मायिक शरीर धारण कर प्रकृतिको भोग करना चाहता है, उसी समय उसके पापके बीज जम जाते हैं। वही बीज अनादि कालसे उसके अन्दर वर्तमान रहकर स्थूल रूपमें पाप या पुण्यके नामसे परिचित होता है। पापके प्रारम्भके सम्बन्धमें गीता में कहा गया है—

इच्छाद्वेष समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्व भूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥
(गीता ७।२७)

द्वैत-जगत (Relative world) में परस्पर विरोधी दोनों विषयोंका ज्ञान होना चाहिए। भलाई किसे कहते हैं-यह समझनेके लिये बुराई क्या है-यह जाननेकी आवश्यकता है। बुराई क्या चीज है-यह नहीं जाननेसे 'भलाई' को भलीभाँति नहीं जाना जा सकता है। प्रकाशके अभावमें अन्धकारको जाना जाता है। उसी प्रकार पाप किसे कहते हैं, इसके लिये पुण्य किसे कहते हैं—इसे जानना आवश्यक है। पापके विपरीत है-पुण्य। जगत्में पुण्यका आदर पापसे अधिक है। पुण्यको सद्गुण भी कहा गया है। परन्तु यह सद्गुण मनुष्यके अतिरिक्त पशु-पक्षियोंमें भी पाया जाता है। जैसे, स्वामीभक्ति एक सद्गुण है; परन्तु इस सद्गुणको हम कुत्तोंमें भी लक्ष्य करते हैं। इसी प्रकार यदि हम चौरासी लाख जीव-जंतुओंके प्रति लक्ष्य करते हैं, तो हम केवल मानव जातिमें ही नहीं, भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियोंमें भी पाप-पुण्य अथवा सद्-असद् गुणोंके अनेक प्रकारके वैशिष्ट्य देख सकते हैं। पाप या पुण्य पर मानव जातिका एकाधिकार नहीं है। वरं यह चौरासी लाख योनियोंका अवश्य भोक्तव्य कर्म-फल है।

हमारे प्रबन्धका विषय है—'पाप क्या है ?' परन्तु पाप क्या है, इसे भलीभाँति समझनेके लिये पुण्य क्या है—इस विषयकी आलोचनाकी आवश्यकता है। उपरोक्त विवेचना द्वारा हमारा सिद्धान्त यह हुआ कि पाप और पुण्य—ये दोनों ही शुद्धजीवके ज्वर-जातीय दो बाहरी लक्षण हैं। शुद्धजीव न तो पापी ही है, और न पुण्यवान् ही। मायाके साथ सम्बन्ध होने पर ही शुद्ध जीवमें पाप-पुण्यका आविर्भाव होता है। मायाके साथ सम्बन्ध होनेका तात्पर्य है—मायिक सत्त्व, रज और तमोगुणोंके साथ सम्बन्ध युक्त होना। राजस और तामस गुणोंके प्रबल होने पर जो लक्षण देखे जाते हैं, उनको 'पाप' कहते हैं। और सात्त्विक लक्षणोंको 'पुण्य' कहते हैं। गुणोंसे अतीत अवस्थामें शुद्धजीव निस्त्रैगुण्य (तीनोंगुणों से परे) होकर शुद्धसत्त्वमें अवस्थित होता है। शुद्ध सत्त्व-अवस्थामें जीवमें २६ शुद्ध नित्यगुण नित्यकाल अवस्थित होते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इन २६ नित्यगुणोंका उल्लेख है—

कृपालु,[१] अकृतद्रोह,[२] सत्यसार,[३] सम[४] निर्दोष,[५] वदान्य,[६] मृदु,[७] शुचि,[८] अकिञ्चन[९]॥
सर्वोपकारक,[१०] शान्त,[११] कृष्णैक शरण[१२]।
अकाम,[१३] निरीह,[१४] स्थिर, विजित-षड्गुण[१५]॥
मितभुक,[१६] अप्रमत्त,[१७] मानद,[१८] अमानी[१९]।
गंभीर,[२०] करुण,[२१] मैत्र,[२२] कवि,[२३] दक्ष,[२४] मौनी,[२५]॥

—ये २६ गुण जब मायिक गुणोंके साथ मिल कर प्रकाशित होते हैं, तब उनको पुण्य कहते हैं। शुद्ध सत्त्वगुण और सात्त्विकगुण प्रायः एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। इसलिये सात्त्विक गुणवाले व्यक्तियोंमें ही नित्यगुणों के प्रकाशकी सम्भावना अधिक होती है।

हमारी बद्धावस्थामें जड़ा-प्रकृति ही प्रकृतिके नामसे परिचित है। और जीवात्मा अथवा शुद्ध जीव ही पुरुष हैं। गीतामें पुरुष दो भागोंमें विभक्त हैं—क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष। क्षर और अक्षर पुरुष गुणोंकी दृष्टिसे एक होने पर भी शक्तिके विचारसे एक नहीं हैं। क्षर पुरुष पतनशील होते हैं, अतएव ये ही पाप और पुण्यके भागी हैं। अक्षर पुरुष कूटस्थ अर्थात नित्यकाल अच्युत रहते हैं। इसलिये भगवान् और भगवान्के विविध अवतार-समूह सभी अच्युत, कूटस्थ या अक्षर परम ब्रह्म कहलाते हैं। क्षर-पुरुष प्रकृतिके संगके कारण पापी

कहलाते हैं। अतएव क्षर पुरुषकी पतित अवस्था ही उनका पापमय जीवन है। परन्तु विविध प्रकारके पुण्य कर्मोंके द्वारा जब पतित जीव सम्पूर्णरूपसे पाप-मुक्त हो जाता है, तब वह अपनी नित्य स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त होता है अर्थात् भागवत जीवन या सेवामय जीवन प्राप्त कर लेता है। वह सेवामय जीवन ही पाप-पुण्यसे अतीत निस्त्रैगुण्यकी अवस्था है जो सभी जीवोंके लिये एकमात्र अन्वेषणीय है।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्य कर्मणाम्।
ते द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥
(गीता ७।२८)

प्रकृतिके संगसे ही पुरुषका पतन हुआ है और यह पतन अनादि काल से है—

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥
(गीता १३।२०)

जीवजाति अर्थात् पुरुष और जड़ा प्रकृति दोनों ही अनादि कालसे अर्थात् सृष्टिके पहलेसे ही विद्यमान हैं। मायिककाल तो सृष्टि होनेके पश्चात् पैदा होता है। ऐसा सोचना भूल है कि जड़ जगत्की सृष्टिके साथ ही जीवकी भी सृष्टि हुई है। मायिक सृष्टिकी तुलना एक विराट राजप्रासादके निर्माण कार्यसे दी जा सकती है। जिस प्रकार किसी राज-प्रासादके निर्माणके साथ उसमें रहनेवालोंकी सृष्टि नहीं होती, उसी प्रकार जगत्का उपादान और जगत्-में निवास करनेवाले जीव दोनों ही मायिक जगत्की सृष्टिसे पहलेसे ही वर्तमान हैं—यही शास्त्र-संगत सिद्धान्त है। उक्त श्लोकमें 'अनादि' शब्दका तात्पर्य यह है कि, प्रकृति और जीव दोनों ही अनादि हैं। ये दोनों ही सूक्ष्म अवस्थामें भगवान्की विभिन्न शक्तियों के रूपमें अवस्थित रहते हैं। दोनों ही मायिक देश और कालादिके अधीन नहीं हैं। कालका परिचय देनेवाले भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सृष्टिके पश्चात् देखे जाते हैं। 'अनादि'-शब्दमें भूत, भविष्यत् और वर्तमानका प्रयोग नहीं होता। जिस प्रकार परमब्रह्म नित्यकाल वर्तमान हैं, उसी प्रकार उनकी विविध शक्तियाँ भी नित्यकाल वर्तमान रहती हैं। अतएव प्रकृति और पुरुष दोनों ही मायिक देश-कालसे अतीत सद्वस्तु हैं। भगवान्की इच्छा होनेसे ही उनकी सूक्ष्म शक्ति जड़ा-प्रकृति प्रकाशित होती है और उसमें भगवान् अपने अंश-स्वरूप चित्कण जीव-समूहका बीज-प्रदान कर गर्भाधान करते हैं।

जो जीव उपरोक्त प्रकारसे प्रकृतिके गर्भस्थ होकर मायिक शरीर धारण करते हैं, वे सभी भगवद्-विमुख जीवकी श्रेणीमें हैं। ये जीव-समूह मायाको भोग करना चाहते हैं। 'कृष्ण बहिर्मुख हइया भोग-वांछा करे। निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥' अर्थात् जीव जभी कृष्णके-विमुख होकर मायाको भोग करनेकी कामना करता है, तभी निकटस्थ माया उसे झपटकर पकड़ लेती है। अतएव कृष्ण-सेवासे विमुख होना और जड़ा प्रकृतिको भोग करनेकी इच्छा—इन्हींको जीवका पाप-बीज समझना चाहिए। इस पाप बीजके रोपित होनेके पहले जीव नित्यकाल ही शुद्धजीव हैं। अनादि कर्मफलसे जीवका पाप-बीज रोपित होता है। एवं पाप-बीज लगनेके साथ-साथ जीव संसार-समुद्रमें पतित होता है। यह पाप-बीज अनादि कालसे ही किस प्रकार बोया गया है, इस विषयमें चिन्ता करनेसे बद्धावस्थामें कोई सुफल नहीं होता। हम बद्धावस्थामें केवल इतना ही समझ सकते हैं कि संसारमें दो प्रकारके जीवोंकी प्रधानता है। कुछ जीव भगवान्के प्रति आकृष्ट हैं। ऐसे जीवोंकी संख्या बहुत ही अल्प है। और कुछ जीव ऐसे हैं, जो भगवान्के प्रति आकृष्ट नहीं हैं। जो जीव भगवान्के प्रति आकृष्ट नहीं होते, उनमें अधि-कांश जीव भगवान्का अस्तित्व तक भी स्वीकार नहीं करते—भगवान्की सेवा करने अथवा उनके भजन करनेकी तो बात ही अलग रहे। कभी कभी तो ऐसा देखा जाता है कि कुछ लोग भगवान्का नाम सुनकर ही क्षुब्ध हो पड़ते हैं। यदि हम उन्हें कुछ भगवानकी कथाएँ सुनानेकी चेष्टा करते हैं, तो वे स्पष्ट ही कहते हैं कि उनकी उस विषयमें तनिक भी दिलचस्पी नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि उपरोक्त दो प्रकारके (आकृष्ट और अनाकृष्ट) जीवोंमें किनका जन्म पहले का है और किनका पीछे का है। जो जीव भगवान्‌का विश्वास करते हैं, उनके लिये इस संदेहको दूर करनेके लिये वेद, पुराण, भागवत, महाभारत आदि शास्त्र नित्यकाल विद्यमान हैं। परन्तु भगवान्‌पर अविश्वास करनेवालोंके पक्षमें कोई भी सुदृढ़ युक्तिपूर्ण शास्त्र नहीं है—हैं कुछ शुष्क तर्क और नीरस सारशून्य आधुनिक पाश्चात्य विचार। अतएव दोनों पक्षोंके लोगोंमें कौन पहले जन्मे हैं और कौन पीछे, यह कहना कठिन है। साधारण तौर पर हम दोनों प्रकारके लोगोंको एक साथ देख रहे हैं—इसे अस्वीकार करनेका उपाय नहीं है। इसलिये भगवद्‌विश्वासी लोगोंको आस्तिक और भगवद्‌विश्वास रहित लोगोंको नास्तिककी संज्ञा दी गयी है। नास्तिक मानव जड़वादी (Materialists) होते हैं और आस्तिक मानव पारमार्थिक (Spiritualists) होते हैं। जो मनुष्य जिस परिमाणमें जड़वादसे मुक्त होता है, वह उसी परिमाणमें पारमार्थिक राज्यमें प्रवेश करता है। जड़वाद जितने ही अधिक अंशोंमें वर्तमान होता है, जीवका पाप भी उतने ही अंशों में अधिक लक्षित होता है। इसलिये पाप या जड़वादको विकार बतलाया गया है। जिस प्रकार मस्तिष्क-विकार होनेपर उस व्यक्तिको पागल अथवा 'भूत चढ़ा रोगी' कहा जाता है, उसी प्रकार जड़-विकारग्रस्त जीवको माया-पिशाची-ग्रस्त जीव कहा जाता है। माया-पिशाची-ग्रस्त जीव पागल होकर स्वेच्छापूर्वक पाप करता है। इसी समय वह अपने स्वरूपको भूल कर माया-प्रकृतिके अधीन होकर और भी अधिक पाप कार्योंमें निमग्न हो जाता है।

पापके अनेक स्तर होते हैं। जैसे, जीवहत्या, आत्महत्या, चोरी, पर-स्त्री-हरण, झूठ बोलना, घर जलाना आदि। आजकल बड़े-बड़े पागल-चिकित्सक ऐसा कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्यके अन्दर कुछ-न-कुछ पागलपनका अंश है। जिसके अन्दर जितना ही अधिक पागलपनका अंश है, वह उतना ही अधिक पाप करता है। उपरोक्त पापकर्मोंको पागल व्यक्ति ही करता है; दूसरे ऐसा कर्म कैसे कर सकते हैं ?

माया-पिशाची शुद्धजीवको पकड़कर किस प्रकार पापकार्योंमें लगा देती है, उसे हम गीतामें इस प्रकार देख पाते हैं—

कार्य-कारण-कर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुख-दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
(गीता १३।२०)

भौतिक उपादानसे गठित इस जड़ शरीरका निर्माण माया करती है। अतएव माया उपादान कारण है एवं भौतिक स्थूल-सूक्ष्म-शरीर उस कारणका कार्य है। इन्द्रिय-समूह भी शरीरका अंश होनेके कारण उसी कारणके ही कार्य हैं। सूक्ष्म-शरीरका आधार है—मन। इसलिये इस स्थूल-सूक्ष्मे शरीरमें 'मेरा' का अभिमान रहने पर भी उस पर हमारा कुछ भी हाथ नहीं होता। हम मकानके किरायेदार हैं। घर किरायेदारका नहीं होता। उसी प्रकार हमारा शरीर पर कोई कर्त्तत्व नहीं होता। शरीरके किसी स्थानमें चोट लगने पर हम कुछ हद तक शरीरकी सहायताके लिये प्रयत्न करते हैं, परन्तु अंततक शरीरपर प्रकृतिका ही अधिकार प्रधान रूपमें देखा जाता है। शरीरका प्रत्येक अंग-प्रत्यंग आधिदैविक कर्त्तृत्वके अधीन है। और तो क्या, हमलोग जो आखोंकी पलकें गिराते हैं, वह भी प्रकृतिके अधीन होता है। उन अधिकारी देवताओंके जो नियम-कानून हैं, उनको कोई भी मनुष्य बदल नहीं सकता है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक-साधनों द्वारा भी प्रकृतिके नियमोंको बदला नहीं जा सकता। आजकल वैज्ञानिक साधनोंसे प्राकृत-नियमोंको बदलनेके लिये बड़ी-बड़ी चेष्टाएँ की जा रही हैं। यह भी एक प्रकारसे मायाका ही व्यापार है। ऐसा करना भी पाप ही है। क्योंकि यह कार्य पारमार्थिक कल्याणका विरोधी है।

(क्रमशः)

—पण्डित श्रीयुत अभयचरण भक्तिवेदान्त